श्री :

श्री वेदान्त देशिक सेवासंघ ग्रन्थमाला

आचार्य श्री वेदान्त देशिक स्वामी द्वारा अनुगृहीत

श्री मद्रहस्यत्रयसार न्यास विंशति न्यास तिलक न्यास दशक

हिन्दी टीकोपेत

वि० सं० २०२४ श्री पंचमी

[मूल्य १) एक रुपया।

प्र० सं० २०००]

श्रीमते रामानुजाय नमः ॥
श्रीमन्निगमान्तमहादेशिकाय नमः ॥

श्री वेदान्त देशिक सेवा संघ ग्रन्थमाला

आचार्य श्री वेदान्त देशिक स्वामी द्वारा अनुगृहीत
श्री मद्रहस्यत्रयसार, न्यास विंशति, न्यास तिलक, न्यास दशक ।

हिन्दी टीकोपेत

टीकाकार
बदरिकाश्रम धर्म पीठस्थ अनन्त श्री त्रिदण्डी स्वामी
वेदान्त रामानुजाचार्य जी महाराज ।

प्रकाशक
वेदान्त देशिक सेवा संघ
त्रिदण्डी मठ, दारागंज, प्रयाग

प्रथम संस्करण
२०००

सं० २०२४ माघ मास

मूल्य
१) रुपया

प्रकाशक
वेदान्त देशिक सेवा संघ
त्रिदण्डीमठ, दारागञ्ज
प्रयाग

प्रथम संस्करण २०००

मुद्रक
राजाराम शुक्ल
भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगञ्ज
प्रयाग

दो शब्द

श्री वेदान्त देशिक सेवा संघ प्राचीन ग्रन्थों के प्रकाशन का अपना कार्यक्रम प्रारम्भ कर रहा है। प्रारम्भ में श्रीवैष्णवों के अत्यन्त ज्ञातव्य विषय भगवत्प्रपत्ति, मन्त्रार्थ आदि ज्ञान के लिये उपयोगी ग्रन्थ, अधिकार संग्रह, न्यास विंशति, न्यास तिलक, न्यासदशक, इन ग्रन्थों का संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद तथा मन्त्रार्थ विचार रहस्यत्रयानुसार लिखा गया है।

आशा है श्री वैष्णव सम्प्रदाय जिज्ञासुओं को इससे पर्याप्त लाभ होगा। संघ के इस प्रथम प्रयास को प्रोत्साहन देते हुए सम्प्रदायानुरागी अपनाएँ। आज के युग में प्राचीन साहित्य का प्रकाशन अनेक जटिल समस्याओं से ग्रस्त है। पर्याप्त सहयोग के बिना ऐसा नहीं बन सकता। इसी के आधार पर आचार्यों के दूसरे ग्रन्थ तथा वैष्णवता का ज्ञान कराने वाले ग्रन्थ, भविष्य में आपकी सेवा में उपस्थित किये जा सकेंगे। आशा है आप हमें प्रकाशन का सहयोग प्रदान करते रहेंगे।

प्रकाशक :—
वेदान्त देशिक सेवा संघ
त्रिदण्डी मठ, दारागंज, प्रयाग।

श्री मतेरामानुजाय नमः

श्रीमते निगमान्त महादेशिकाय नमः

"भूमिका"

सर्वतन्त्र स्वतन्त्र श्री मद्वेदान्त देशिक स्वामी जी की सुक्तियां १६० है। ये रचनायें आठ भागों में विभक्त की जाती हैं। स्तोत्र, प्रबन्ध, रक्षाग्रन्थ, रहस्यग्रन्थ, वादग्रन्थ, काव्य नाटक आदि, सिद्धान्त प्रकरण-ग्रन्थ, और उभय वेदान्तग्रन्थ। इनमें स्तोत्र ३२ वादग्रन्थ ३ काव्यनाटक आदि, १२, सिद्धान्त प्रकरणग्रन्थ ६, उभयवेदान्त ग्रन्थ ९, ये सब संस्कृत में निबद्ध हैं।

प्रबन्ध ग्रन्थ १८ भी तमिल भाषा में रचे गये है। और शेषग्रन्थ मणिप्रवाल नाम से प्रसिद्ध संस्कृत एवं तमिल से मिश्रित भाषा में विरचित हैं।

वेदवेदान्त, गीता, दिव्य प्रबन्ध ब्रह्मसूत्र आदि में जहाँ तहाँ प्रतिपादित विषयों को चेतन अपने उद्धार के लिये आवश्यक जानने योग्य अर्थों को जो विशेष रूप से अपने ग्रन्थों में संकलन करके श्री देशिक स्वामी जी ने दिया है। और तत्त्वत्रय को अपने रहस्य ग्रन्थों में निश्चित सिद्धान्त कह कर सब प्रमाणों के साथ बताया है।

रहस्य ग्रन्थों में उनकी शैली यह रही है कि प्रत्येक ग्रन्थों के आदि अन्त में वैसे ही उनके अध्यायों के विभाग में (आदि अन्त) में एक एक संस्कृत श्लोक अथवा तमिलपद्य या दोनों ही देकर ग्रन्थ एवं अध्यायों के प्रतिपाद्य विषयों का दिग्दर्शन कराते हैं। रहस्य ग्रन्थों में श्रीमद्रहस्यत्रय सार सबसे बड़ा है। इसमें मूलमन्त्र द्वय तथा चरमश्लोक की विस्तृत व्याख्या की गई है। इस ग्रन्थ में ३२ अधिकार हैं। प्रत्येक अधिकार में

प्रतिपाद्य विषय का संग्रह करते हुये एक श्लोक है। अन्त में एक अथवा अनेक तामिल पद्य देकर अनन्तर एक संस्कृत श्लोक है।

प्रत्येक अधिकार के आरम्भ तथा अन्त के संस्कृत श्लोकों का संकलन ही अधिकार संग्रह के नाम से एक छोटा पद्य ग्रन्थ कहा जाता है। इस पद्यमय ग्रन्थ के अध्ययन से श्री मद् रहस्यत्रयसार ग्रन्थ में प्रतिपादित विषयों का सामान्यतः ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस अधिकार संग्रह ग्रन्थ में प्रतिपादित अर्थों का यहाँ दिग्दर्शन कराता हूँ।

प्रथम तीन श्लोकों से अपनी आचार्य परम्परा के प्रति अटूट श्रद्धा व भक्ति ग्रन्थकार प्रकट करते हैं चौथे श्लोक से इस प्रबन्ध के अध्ययन का फल बताते है। पांचवें एवं छठवें श्लोक से चेतन का वास्तविक स्वभाव बताकर प्रपन्न जीव के दुर्लभत्व का प्रतिपादन करते हैं। फिर दो श्लोकों से वेद में उपनिषद् भाग की प्रधानता और मूलमन्त्र द्वय एवं चरम श्लोक का अर्थ सहित जप करने वालों की श्रेष्ठता बताते हैं। बाद में प्रधान प्रतितन्त्रभूत शरीर शरीरि भाव स्वसिद्धान्त दिखलाते हैं। फिर अर्थपञ्चक का निरुपण कर तत्त्वत्रय का चिन्तन करते हैं। तदनन्तर आत्मज्ञानी का दुखमूलक संसार के प्रति घृणा का वर्णन करते हैं। बाद में भक्ति एवं प्रपत्ति के अधिकारियों का परस्पर भेद बताते हैं। इसके अनन्तर भगवान का सिद्धोपायत्व तथा भक्ति प्रपत्ति का साध्योपायत्व का निर्णय देते है। फिर प्रपत्ति का सर्वाधिकारत्व और विश्वास की ही प्रधानता बताते हैं। तदनन्तर प्रपत्ति के आनुकूल्यसंकल्प प्रातिकूल्य वर्जन आदि अंगों का वर्णन करते हैं। इसके बाद प्रपन्न को मोक्षार्थ अब कोई कर्त्तव्य कर्म नहीं रह जाता। केवल विहित कर्मों का अनुष्ठान करना जीवनोपाधिक रह जाता है इस प्रकार का निरुपण कर प्रपन्नों का कालक्षेप बताते हैं। इसके बाद भागवत कैंकर्य को प्रधान पुरुषार्थ बताकर चेतनों के पापों का तीन भागों में विभाजन करते हैं। फिर भागवत जन जहाँ निवास करते हों उन स्थानों

की श्रेष्ठता का वर्णन करते हैं। बाद में अन्तिम प्रयाण और देश विशेष में जाकर परिपूर्ण ब्रह्मानुभव की पद्धति बताते हैं।

द्वितीय भाग में श्री लक्ष्मीनारायण का सिद्धोपायत्व और उनके वशीकरण का प्रपत्ति ही एक उपाय है विश्रम्भ पूर्वक इसका निरुपण करते है। सिद्ध साध्य उपायों का प्रभाव और वर्णाश्रम व्यवस्था आदि का वर्णन करके मूलमन्त्र द्वय चरमश्लोक का सूत्र एवं विस्तार पूर्वक अर्थों का निरुपण करते हैं। जिसे हिन्दी व्याख्याकार स्वामीजी ने संक्षिप्त रहस्यत्रयार्थ संग्रह के नाम से अलग ही प्रकटन किया है। फिर आचार्यं एवं शिष्यों का कृत्य बताकर परमसात्विकों ये लिये अपने इस ग्रन्थ रत्न की उपयोगिता बताते हैं। स्तोत्ररत्न की तरह ७० श्लोक का यह ग्रन्थ नित्य पाट एवं मनन के योग्य रहस्यग्रन्थ है।

ऐसे ही न्यास विंशति में बाइस श्लोक है। अन्तिम दो श्लोक इस ग्रन्थ की रचना हेतु में है। यह श्लोक आचार्य श्री के अनुष्ठान का प्रतिपादक है।

पहले के बीस श्लोक न्यास विद्या की व्याख्या हैं मुख्य प्रतिपाद्य अर्थ इसी बीस में होने से न्यासविंशति इसका नाम है गीता के १३ वें अध्याय में ज्ञान विंशति की ओर संकेत करता है। स्वयं श्री देशिक स्वामीजी २० वर्ष में ही ब्रह्म विद्याओं के पूर्ण मर्मज्ञ और सांगोपांग अनुष्ठान सम्पन्न हो गये थे। इस न्यासविंशति का प्रतिपाद्य विषय क्रमशः ये हैं प्रपत्ति के अधिकार में अधारभूत सदाचार्य का वरण है, आचार्य निष्ठा, शिष्य का लक्षण और मूलमन्त्र आदि में उक्त अर्थ और उसे नित्य अनुसन्धान करना। भक्ति एवं प्रपत्ति में अधिकार की व्यवस्था तथा पूर्वाचार्यो से प्रपत्ति की पूर्ण स्थापना और विश्वास में महत्व विशेषण देने की आवश्यकता एवं प्रपत्ति के द्वारा ही मन्त्र का उपायत्व और प्रपत्ति ही साक्षात् उपाय है। भक्ति प्रपत्ति में व्यवस्थित अधिकार की चर्चा शरणागति में षड्विधत्व का तात्पर्य्य और प्रपत्ति के अंगों के विषय में मतभेद निष्कृष्ट प्रपत्ति का स्वरूप तथा मोक्षार्थ प्रपत्ति में

अपने शेषत्वस्वरूप का अनुसन्धान। भरन्यास होने के बाद भी जीवन भर विहित कर्मों का अनुष्ठान करना और मामेकं में एक शब्द का तात्पर्य्य सिद्धोपाय और साध्योपाय का विभाग तथा अंगपञ्चक का स्पष्ट प्रतिपादन और प्रपन्नों का कर्त्तव्य एवं उचित समय में प्रपन्न की पुरुषार्थ प्राप्ती आदि विषयों का प्रतिपादन है अन्तिम दो श्लोकों में ग्रन्थ निर्माण का प्रयोजन और इसमें प्रतिपादित प्रपत्ति का अपने में अनुष्ठान द्वारा बताकर ग्रन्थ की पूर्ति करते हैं।

न्यास तिलक श्री रंगनाथ जी के स्तोत्र रूप में रचा गया है। इस ग्रन्थ में सब बत्तीस श्लोक हैं। न्यासविंशति में कहे गये और जो इसमें नहीं कह सके थे ऐसे सभी अर्थों का संग्रह इस ग्रन्थ में श्री देशिक स्वामी ने की है।

गुरुपरम्परा की वन्दना के बाद श्री रंगनाथ जी की अभय मुद्रा का वर्णन-फिर श्री जी की शरणागति और उनका पुरुषकारत्व एवं उपायत्व का प्रतिपादन करते हैं। अनन्तर प्रपति का स्वातन्त्र्य तथा पारतन्त्र्य दिखलाते हैं। आगे चलकर श्री रंगक्षेत्र का माहात्म्य एवं क्षेत्राधिराज रंगराज का परत्व वर्णन करते हुये उन्हे सम्बोधन कर प्रपति के स्वभाव का स्पष्टीकरण करते हैं। फिर आचार्य निष्ठा, शरणागति के अधिकारी और उनका उत्तरकृत्य, आश्रितों के वर्तमान जन्म के दुखों के निवारण न करने मे कारण आदि का प्रतिपादन करते हैं। इसके बाद भक्ति से प्रपत्ति की विशेषता शरणागति प्रपत्ति में व्यवस्थित विकल्प शरणागति का सर्वफलप्रदत्व और महाविश्वास का वर्णन करते हैं। ऐसा ही अपने प्रति आचार्यानुग्रह आचार्य सम्वन्ध और श्री भाष्यकार सम्बन्ध का गर्व एवं स्वाभिमान वर्णन करते हैं। देह सम्बन्ध से विषय की प्रवलता और निरर्थक चिन्ता असेव्य क्षूद्र प्रभुओं की स्तुति का त्याग-मन वाणी को शिक्षा देते हैं। करणत्रय से अब कोई अकृत्य करण न हों सावधानी रखना और कृत्यकरण भगवद्भागवताचार्यों का करण त्रय से कैंकर्य्य करने की प्रार्थना करना। अनन्यपरायणता

एवं सब तरह से प्रीति पूर्वक कैंकर्य्य फल की भगद्भागवतों से प्रार्थना करते रहना चाहिए। इस तरह से अधिकार संग्रह न्यासविंशति और न्यासतिलक इन तीनों ग्रन्थों में चेतनों के उज्जीवनार्थ तत्त्वहित पुरुषार्थ सम्बन्धी सभी अर्थों का देशिक स्वामी ने अच्छी तरह से वर्णन किया है। संस्कृत पद्य में तीनों ग्रन्थ हैं श्री मद्रहस्यत्रयसार के अधिकारों से जो विस्तृत अर्थ स्वामी ने निरुपण किया है। उसका संग्रह रूप अधिकार संग्रह सूत्र की तरह संक्षिप्त है। विस्तृत संस्कृत और हिन्दी टीका दोनों वैकुण्ठ वासी श्री भाष्यसिंहासनाधिपति आचार्य प्रवर श्री नीलमेघाचार्य स्वामी ने की है जो अभी अमुद्रित है। सूत्र की भाँति संक्षिप्त श्लोकों की भी हिन्दी टीका सम्प्रदाय श्रद्धालुओं के लिये नितान्त अपेक्षित थी।

न्यास विंशति और न्यासतिलक तो गम्भीर प्रपत्ति जैसे विषय का विमर्श करते हैं। जैसे सर्वाधिकार और सर्वसुलभ यह प्रपत्ति कही जाती है वैसे ही इसके अधिकारी सुलभ नहीं है विश्वास ही इस उपाय का मुख्य प्राण और उपायान्तर का पूर्ण त्याग मेरुदण्ड है। अनादि काल के दुःसंस्कार और कुसंगति से दुर्बल चेतन को इस अमोघ उपाय में भी बिपरीत ही दीखता है कि चिरकाल तक कठोर परिश्रम और दुःसाध्य सामग्रियों से ज्योतिष्टोमादि यागद्वारा भी स्वर्गादि परमित फल ही मिल सकता है तो आचा द्वारा अतिस्वल्प काल में अन्य सामग्री से रहित यह प्रपत्ति कैसे ब्रह्मप्राप्ती करा सकती है? यह सन्देह सहज में ही उठता रहता है। उपरोक्त तीनों ग्रन्थ इसी को दूर करते हैं। आचार्य सार्वभौम अपनी रचनाओ में यही प्रयत्न किया है कि ऋषि मुनियो और आलवार आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में विप्रकीर्ण रूप से जिसका वर्णन किया है उसी को मैं एकत्र संकलित रूप प्रदान करता हूँ। अपनी तरफ से कोई नूतन बात कहीं नहीं कर रहा हूँ। श्रुतिस्मृति सूत्रों में इस प्रपदन उपाय का सविस्तार वर्णन है "न्यासमेषां तपसामतिरिक्त माहुः" "मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये" यो नमसा स स्वध्वरः,, आदि हैं। नाना शब्दादि भेदात्,, ब्रह्मसूत्र, मामेव ये प्रपद्यन्ते" गीता और पञ्चरात्र

ॐ

भगवच्छास्त्रों में सैकड़ो प्रबल प्रमाण मिलते हैं। उपरोक्त तीन ग्रन्थों में पूर्वोत्तर पक्ष की चर्चा करके प्रपत्ति को सुप्रतिष्ठित करते हैं। न्यासविंशति और न्यासतिलक यह दोनों ही ग्रन्थ स्थूणानिखनन न्याय से प्रपत्ति को ही अच्छी तरह समझाते हैं। न्यास विंशति में जो विषय नहीं कहें थे उसे तिलक में कहते हैं श्री प्रपदन में उद्दिष्ट है उनकी पुरुषकारता के साथ उपायता भी है श्री मन्नारायण उपाय हैं गुण विग्रह की तरह लक्ष्मी जी सदा स्वामी के साथ है। निःश्रीक नारायण उपापोपेय नहीं है।आर्तों के लिये शीघ्र फलद प्रपति है। दृप्तो के लिये देहान्तर निवारण करती है भरन्यास अनुष्ठान प्रकार का विवेचन करते हैं। महाविश्वास से यह प्रपति महाफलदा है। और आदि अर्चावतार श्री रंगराज के प्रति ऐकान्तिक निष्ठा का वर्णन करते हैं कि मैं आपका तथा आपकी यह पट्टमहिषी श्री रंगनायकी का अनन्यशेष बनूँ अहंकार ममकार छोड़कर अविछिन्न कैंकर्य्य मुझे प्राप्त हो। देहावधि अर्चा सन्निधि और देह विगम में परवासुदेव की सन्निधि प्राप्त हो।

न्यास तिलक में प्रपन्नों के लिये आचार्य ने निष्ठा और अनुष्ठान की मजूषा दी है। स्वरूपज्ञ वैष्णवों की सन्निधि में उसे खोल कर देखें।

न्यासविंशति और न्यासतिलक न्यासदंसक इन तीनों ग्रन्थों की हिन्दी टीका श्री भाष्य सिहानाधिपति गै० वा० स्वामी नीलमेघाचार्य जी ने की है जिसका प्रकाशन गै० वा० मगनीराम बागड़ जी की पुण्य स्मृति में वांगड़ ट्रस्ट कलकत्ता ने किया है किन्तु वह व्याख्या मूलकार तथा व्याख्या कार दोनों की विद्वत्ता नुसार होने से अति गम्भीर और सुविस्तृत हो गई है। यदि वह हिन्दी टीका आवश्यक विषयों को स्पष्ट प्रतिपादन करती हुई संक्षिप्त हो तो अधिक उपयोगी सिद्ध होगी। इसी अभिप्राय से इस सत्कार्य को अनन्त श्री बिभूषित श्री त्रिदण्डी वेदान्त रामानुज स्वामी जी ने किया है। आप अपने ज्ञान वैराग्य अनुष्ठान के लिये पहले से ही उत्तर भारत में प्रसिद्ध है गै० वा० श्री रंगरामानुज महादेशिक

कोलियालम स्वामी जी व० वा० अभिनव रंगनाथ ब्रह्मतन्त्र परकाल महादेशिक श्री परकाल स्वामी जी आदि वेदान्त दिग्गजों के पूर्ण अनुग्रह भाजन है। अतः यह कार्य आपके ही योग्य है आचार्य परम्परा से सम्प्रदाय अर्थ को आपने सम्पादन किया है और श्री देशिक स्वामी जी में आपकी प्रागढ़निष्ठा है। चिरकाल तक मूलमन्त्राधिदेव श्री वदरीनारायण भगवान की सन्निधि सेवा में आपने कृतार्थता सम्पादन की है।

जैसा कि प्रसिद्ध व्याख्याकार मल्लिनाथ ने कहा है कि "नामूलं लिख्यते किञ्चित् नानपेक्षित मुच्यते" उसके अनुसार ही अनपेक्षित विस्तार के बिना आवश्यक विषयों को स्पष्ट करते हुये ग्रन्थकार के आशय से पाठकों को यह टीका अवगत कराती हैं। इस प्रकार आवश्यक विषयों के प्रतिपादन करने वाले संक्षिप्त ग्रन्थों की टीका नितान्त अपेक्षित थी। ऐसी टीका लिखकर स्वामी जी ने आस्तिक लोगों को अधमर्ण बना दिया है। और आगे भी आशा करता हूँ कि श्री स्वामीजी की सशक्त लेखनी से जनता के उद्धारप्रद इस प्रकार की कई कृतियाँ निकलेगी। आस्तिकता बढ़ेगी लोग कमलाकान्त के करुणा के पात्र बनेगें।

वि० श्रीरंगनाथाचार्य शिरोमणि
प्राध्यापक-प्रयाग विश्वविद्यालय

श्रीमदधिकार संग्रह न्यासविंशति और न्यासतिलक न्यासदसक की विषय तालिका

अध्याय	विषय		पृष्ठ
१—	सम्प्रदाय विशुद्धि	...	१
२—	सदाचार्य में श्रद्धा भक्ति	...	,,
३—	आचार्य उत्कर्ष की कामना	...	२
४—	उपोद्धात एवं ग्रन्थ की उपादेयता	...	,,
५—	मूलमन्त्र का अधिकारी भगवत्कटाक्षपात्र	...	,,
६—	भगवत्कटाक्षपात्र अधिकारी दुर्लभ	...	३
७—	सारनिष्कर्ष-अनुसन्धेय मूल मन्त्र	...	,,
८—	रहस्यमय ज्ञाता दुर्लभ	...	,,
९—	प्रतितन्त्र सारोद्धार मूल मन्त्रार्थ ही वेदान्त	...	४
१०—	श्रीभाष्यकार उपकार स्मृति	...	,,
११—	अर्थ पञ्चकअर्धिकार	...	,,
१२—	अर्थ पञ्चक विशदीकरण	...	५
१३—	तत्त्वत्रयाधिकार-और उसका फल	...	,,
१४—	अनेक तत्त्ववाद तत्त्व त्रय के ही अन्दर	...	६
१५—	परतत्त्व निर्णय श्रियःपति	....	,,
१६—	मुमुक्षुत्वाधिकार और लक्षण	...	७
७—	मुमुक्षुत्व दुर्लभ	...	,,
१८—	अधिकारि बिभगाधिकार	...	८
१९—	भक्तिप्रपत्ति में सम विकल्प	...	,,

२०—प्रपत्ति ही मुख्य उपाय है ...	८
२१—उपाय विभागाधिकार में ईश्वर ही सिद्ध साधन है	९
२२—पौराणिक प्रणाली से भक्ति प्रपत्ति प्रदर्शन ...	,,
२३—सर्वाधिकार प्रपत्ति है	१०
२४—भक्तिप्रपत्ति में भेद प्रपत्ति का प्रधानाङ्ग विश्वास ...	,,
२५—परिकर विभागाधिकार प्रपत्ति का अङ्ग ...	११
२६—अनुकूल आदिपांच या छः अङ्ग	,,
२७—साङ्ग प्रपदनाधिकार प्रपत्ति का लक्षण ...	१२
२८—प्रपत्ति में चेतन प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं ...	,,
२९—कृत कृत्याधिकार में कृतकृत्यता और निर्भरता का फल वर्णन	,,
३०—भगवत्कैं कर्य्य कर्त्तव्य से कृतार्थता ...	१३
३१—स्वनिष्ठाभिज्ञानाधिकार ...	,,
३२—प्रपन्न अपनी निष्ठा का परिचय ...	१४
३३—स्वामी के कैंकर्य्य सम्माना यह है ...	,,
३४—उत्तर कृत्याधिकार में प्रपन्न कृत्य ...	,,
३५—रहस्यमयानुसन्धान से कालक्षेप ...	१५
३६—पुरुषार्थ काष्ठा धिकार में भागवत कैंकर्य्य ...	,,
३७—भागवत प्रेम-पुरुषार्थ चरमसीमा ...	१६
३८—शास्त्र नियमनाधिकार आज्ञानुज्ञापालन ...	,,
३९—भगवदिच्छा का बोधक शास्त्र ही है ...	,,
४०—अपराधपरिहाराधिकार में पुनःप्रपत्ति ...	१७
४१—प्रपत्ति, अनुभव, प्रायाश्चित्त से क्षय होनेवाले पाप	,,
४२—स्थान विशेषाधिकार प्रपन्न निवास योग्य स्थान ...	१८
४३—प्रपन्नों के निवास योग्य भूमि ...	,,
४४—निर्याणाधिकारमें देह वियोगप्रक्रिया ...	,,
४५—मुमुक्षु सुषुम्मा नाड़ी द्वारा परधाम गमन ...	११
४६—गति विशेषधिकार:अर्चिरादिमार्ग ...	,,

४७—लोकान्तर गमन के सब परिहार हरि कृपा ... १९
४८—परिपूर्ण ब्रह्मानुभवाधिकार परमसाम्यापत्ति २०
४९—साम्यापन्न कैंकर्य्य प्रवाह ... ,,
५०—सिद्धोपाप शोधनाधिकार भगवान ही हैं ... २१
५१—परमसात्विको के लिये ही सिद्धोपाय बनते हैं ... ,,
५२—साध्योपाय शोधनाधिकार भक्ति प्रपत्ति ... ,,
५३—सिद्धोपाप के लिये साध्योपाय भक्ति प्रपत्ति ... २२
५४—प्रभाव व्यवस्थाधिकार भगवान एवं भक्तों का प्रभाव ,,
५५—शरीरावधि तत्तद्वर्णाश्रम व्यवस्था पालन ... २३
५६—प्रभाव रक्षाधिकार बिचित्र शक्ति प्रदर्शन .... ,,
५७—प्रपत्ति के निश्चय में निष्ठा निरुपण ... ,,
५८—मूल मन्त्राधिकार पदपदार्थ विभाजन ... २४
५९—पदपदार्थ माहात्म्य वर्णन ... ,,
६०—द्वयाधिकार मे द्वय माहात्म्य ... ,,
६१—विशिष्ट तत्त्व वर्णन ... २५
६२—चरमश्लोकाधिकार एवं चरम मन्त्र माहात्म्य ... ,,
६३—ज्ञाता सर्व श्रेष्ठ दुर्लभ ... २६
६४—आचार्य कृत्याधिकार .... ,,
६५—शिष्य कृत्याधिकार भगवद्दासता सिद्ध है .... ,,
६६—शिष्यकृत्याधिकार उपकारस्मृति अनुगमन २७
६७—आचार्य नराकृति में नारायण है ... ,,
६८—सम्प्रदायनिष्ठ, सूरियों से सम्मानित ... ,,
६९—ग्रन्थकार का आत्म विश्वास एवं प्रार्थना ... २८
७०—ग्रन्थाधिकारी कौन है ... ,,
७१—अधिकारव्याजसे मंगलाशासन ... ,,

इति अधिकार संग्रह

अथ न्यासविंशति

१—आचार्य का लक्षण ... २९
२—आचार्य एवं भगवान में संमानता ... ३०
३—शिष्य का लक्षण ... ,,
४—साध्यसाधन परतत्त्व में निष्ठा सन्नार्थ से ... ३१
कालक्षेप तत्त्व ज्ञान और मोक्षाधिकारी ... ,,
५—भक्तप्रपन्न की व्यवस्था ... ,,
६—प्रपत्ति की महिमा में सन्देह का परिहार ... ३२
७—महाविश्वास की आवश्यकता ... ,,
८—प्रपन्न को द्वयमन्त्र के उच्चारण मात्र से फल की प्राप्ती। ३३
९—मोक्षोपाय में प्रपत्ति सर्व श्रेष्ठ है ... ,,
१०—भक्ति प्रपत्ति में भेद है ... ,,
११—अपने अंगों को छोड़ कर प्रपत्ति को अन्य ... ३४
अंगों की आवश्यकता नहीं है ... ,,
१२—सम्भावित और प्रशस्तता के साथ एक वाक्यता ... ,,
१३—प्रपत्ति स्वरूप का निष्कर्ष क्या है ३५
१४—मोक्षार्थ प्रपत्ति में शेषत्वानुसन्धान नियत है ... ,,
१५—प्रपन्नों के कर्त्तव्य कर्म का निर्णय ... ३६
१६—प्रपत्ति में श्री श्रीपति ही हैं ... ,,
१७—सिद्धोपाय के लिये साध्योपाय भक्ति प्रपत्ति ... ३७
१८—अनुष्ठान मुख से प्रपत्ति का निरुपण .... ,,
१९—हेय उपादेय और अनुसन्धेय अर्थों के साथ ... ३७
प्रार्थनीय अंश प्रपन्न का क्या है ... ,,
२०—अधिकार सम्पन्न प्रपन्न को समय पर फल की अवश्य ही प्राप्ती ३८
२१—प्रपत्ति में प्रमाण और प्रबन्ध का प्रयोजन ... ३९
२२—प्रपन्न के लिये निर्भरता एवं निर्भयता ... ,,

इति न्यास विंशति

अथ न्यास तिलक

१—आचार्यानुसंधान ... ४०
२—रंगनाथ की अभयमुद्रा की भावना ... ,,
३—भगवत्प्रपत्ति से पूर्व श्री जी की प्रपत्ति ... ,,
४—श्री जी मे पुरुषकार पूर्वक उपायता वर्णन ... ४१
५—प्रपत्ति की स्वतन्त्रता का वर्णन ... ,,
६—प्रपत्ति में अर्चावतार मुख्य विषय है ... ,,
७—अर्चा में भी परत्व का वर्णन ... ४२
८—प्रपत्ति में प्रार्थना योग्य अंश ... ,,
९—ग्रन्थ कार का प्रार्थनीय अंश ... ४३
१०—प्रपत्ति स्वभाव वर्णन प्रार्थना ... ,,
११—प्रपन्न प्रीति प्रार्थना ... ,,
१२—प्रपन्नचर्य्या से शिक्षा ... ४४
१३—प्रपन्न उत्तर दिनचर्य्या एवं उनकी रक्षा की प्रार्थना ,,
१४—प्रपन्न की रागांश मे उपेक्षा ... ४५
१५—भक्ति प्रपत्ति भेद समर्थन ... ,,
१६—प्रपत्तिपर्य्याय शद्बों का वर्णन .... ,,
१७—भक्ति प्रपत्ति अधिकार भेद से व्यवस्थित विकल्प है ४६
१८—प्रपन्न बुद्धिदुर्वलता से भक्ति में ... ,,
१९—महाविश्वास मन्दता का परिहार ४७
२०—आचार्यकृत न्यस्तभरानुसन्धान ... ,,
२१—आचार्यानुग्रह उत्तारक ... ४८
२२—आचार्य विश्वासी उज्जीवित ... ,,
२३—स्वदुराशा की निन्दा ... ४९
२४—निरर्थक चिन्ता-सान्त्वना ... ,,
२५—करणत्रय दुष्प्रपृतिनिरोध ... ,,
२६—करणत्रयसार्थक्य ... ५०

अध्याय	विषय		पृष्ठ
२७—कैंकर्य्य परम कृत्य		...	,,
२८—क्षूद्र जन्तु अस्तुत्य		...	,,
२९—प्रभुस्तोता-क्षूद्र स्तुति नहीं करेगा		...	५१
३०—देवतान्तर निषेध		...	,,
३१—मूल मन्त्रार्थ		...	५२
३२—सर्व काल कैकर्य्यपालन		...	५३
ग्रन्थ माहात्म्य			

इति न्यास तिलक

अथ न्यास दशकम्

१—प्रपत्ति में सात्विक त्याग	...	५४
२—प्रपत्ति के छः अङ्गों का निरूपण,	...	,,
३—समर्पण	...	,,
४—स्वाभीष्ट प्रार्थना	...	,,
५—अपचार परिहार	...	५५
६—सपरिकर कैङ्कर्य्य	...	,,
७—आत्मा आत्मीय समर्पण	...	,,
८–९–प्रमादिक पापों की क्षमायाच्ञा	...	५५-५६
१०—श्री भगवान् का आश्वासन व सात्विक त्याग का रूप	...	५६
	...	,,

———

श्रीमते रामानुजाय नमः
श्रीमते निगमान्त महादेशिकाय नमः

श्री वेदान्त देशिक स्वामी जी से अनुगृहीत
श्रीमद्रहस्यत्रयसार का अधिकार संग्रह

आचार्य तनियन्

गुरु परम्परा सारः,

श्रीमान् वेङ्कटनाथार्यः कवितार्किक केसरी।
वेदान्ताचार्य वर्यो मे सन्निधत्तां सदा हृदि ॥१॥

अर्थ—कवि और तार्किकों में सिंह, श्रेष्ठ वेदान्ताचार्य श्री मान् वेङ्कटनाथ स्वामी हमारे हृदय में विराजें।

प्रपदनमये विद्या भेदे प्रतिष्ठित चेतसः
प्रतिपदमिह-प्रज्ञादायं दिशन्तु दया धनाः।
शठरिपु शुक व्यास प्राचेतसादि निबन्धन;
श्रम परिणत श्रद्धा शुद्धाशया मम देशिकाः ॥२॥

अर्थ—ब्रह्म विद्याओं के अन्तर्गत न्यास विद्या में पूर्ण विश्वासी दयालु-आलवार शठकोप स्वामी और श्रीशुकदेव मुनि एवं भगवान वेदव्यास तथा महर्षि बाल्मीक आदि आचार्य मुनियों के ग्रन्थों में चिरकाल अभ्यास करके अत्यन्त श्रद्धालु विशुद्ध बुद्धि वाले हमारे आचार्य चरण हमें निरन्तर उत्तम ज्ञान दें।२॥

एते मह्य मपोढ़मन्मथशरोन्माथाय नाथादय,
स्त्रय्यन्तप्रतिनन्दनीय विविधोदन्तास्वदन्ता मिह।
श्रद्धातव्यशरण्यदम्पति दयादिव्यापगा व्यापकाः,
स्पर्धाविप्लवविप्रलम्भ पदवीं वैदेशिकाः देशिकाः ॥३॥

अर्थ—स्वरूप उपाय-पुरुषार्थ बताने वाले वेदान्त शास्त्र के व्याख्याता वात्सल्य सौशील्य आदि दिव्य गुणों से युक्त श्री लक्ष्मीनारायण

भगवान् की दया रूप गंगा में निरन्तर स्नान करने वाले कलह एवं बंचना से दूर परम सात्त्विक हमारे नाथ मुनि प्रभृति आचार्य चरण ! कामक्रोधादि विकारों से दूर रहने वाले मुझे वे अत्यन्त प्रिय लगें ।३।।

हृद्या हृत्पद्मसिंहासन रसिक हयग्रीव हेषोर्मिघोष,
क्षिप्तप्रत्यर्थिदृप्तिर्जयति बहुगुणा पङ्क्तिरस्मद्गुरूणाम्।
दिक्सौधाबद्ध जैत्र ध्वज पट पवनस्फाति निर्धूत तत्तत्सिद्धान्त
स्तोम तूल स्तवक विगमनव्यक्त सद्वर्तनीका: ।।४।।

अर्थ—हृदय सिंहासन पर विद्याधिदेव श्री लक्ष्मी हयानन भगवान विराजमान होकर अपने दिव्य घोष से सभी प्रतिवादियों के अभिमान को दूर कर और सभी दिशाओं में विजयध्वज फहराने की हवा से प्रतिवादियों के सिद्धात रूप तृणतूल को उड़ाकर फिर से सन्मार्ग विशद करने वाली ज्ञान और अनुष्ठान से भरी हमारे आचार्यों की परम्परा का सदा विजय हो ।।४।।

उपोद्घाताधिकार:

पठत रहस्यत्रय सारादुद्धृतमधिकार संग्रहं सुधियः ।
जनन पदवीगतागत जंघालत्वं जिहासन्तः ।।५।।

अर्थ—संसार मार्ग में आने जाने से जिन भाग्य मानों को थकावट लग गई है । और इस जनन मरण के चक्र से वचना चाहते हैं वे विद्वान् रहस्यत्रयसार से अलग किया हुआ इस अधिकार संग्रह गन्थ को पढ़ें ।५।

मणिवर इव शौरे नित्यहृद्योऽपिजीवः,
कलुष मति रविन्दन् किंकरत्वाधि राज्यम् ।
विधि परिणति भेदाद्वीक्षितस्तेन काले,
गुरु परिषदुपज्ञं प्राप्य गोपायति स्वम् ।।६।।

अर्थ—जीव चेतन भगवान को कौस्तुभ मणि की तरह परमप्रिय है । प्रकृती से मलीन होकर भगवत् कैंकर्य्य रूप साम्राज्य से वंचित हो गया है । भाग्य वश भगवत्कटाक्षपात्र हो जाने पर आचार्य सन्निधि में पहुँच कर वहाँ भगवन्मन्त्र प्राप्त कर फिर: परम पुरुषार्थ का अधिकारी बन जाता है ।६।।

कर्मोविद्यादि चक्रे प्रतिपुरुष मिहानादि चित्र प्रवाहे,
तत्तत्काले विपक्ति र्भवति हि विविधा सर्व सिद्धान्त सिद्धा।
तल्लब्धस्वावकाश प्रथम गुरुकृपा गृह्यमाणः कदाचित्,
मुक्त्यैश्वर्यान्त सम्पन्निधिरपि भविता कश्चिदित्थं विपश्चित् ॥७॥

अर्थ—सभी प्राणी चेतन कर्म-अविद्या-एवं संसार चक्र में अनादि-काल से प्रवाहित हो रहे हैं। इस विचित्र प्रवाह में बहते हुये कभी किसी चेतन को सुकृत परिपाक से किनारा मिलता हैं। यहीं से सभी दार्शनिकों ने अपना अपना दर्शन-सिद्धान्त आरम्भ करते हैं कर्म की विचित्रता सर्व मान्य सिद्धान्त है। इसी विचित्र सुकृत परिपाक से आदि आचार्य श्री मन्नारायण प्रभु का कटाक्ष पात्र कोई भाग्यमान होता है। और वही मुक्ति रूप ऐश्वर्य्य-भगवद्‌गुणानुभव कैंकर्य का भाजन बनता है महान् सुकृत से शरण-एवं शरणागति से भगवद् गुण, एवं कैंकर्य्यानुभव और बाद में मुक्ति रूप ऐश्वर्य्य प्राप्त करता है ॥७॥

सारनिष्कर्षाधिकारः

श्रुति पथविपरीतं क्ष्वेलकल्पं श्रुतौ च,
प्रकृति पुरुष भोगप्रापकांशो न पथ्यः।
तदिह विबुधगुप्तं मृत्युभीताः विचिन्वन्,
त्युपनिषदमृताब्धेरुत्तमं सार मार्य्याः ॥८॥

अर्थ—वेदों में हिंसा असत्य आदि जो निषिद्ध कर्म कहें गये हैं वे तो विष हैं ही सकाम कर्म स्वर्गादि भी देह आत्मा के सम्बन्ध से ही भोग्य हैं और इस संसार से कुछ ऊँचा उठा हुआ वह भी एक संसार ही है। जो कि आत्मा के लिये पथ्य नहीं कहा जा सकता। प्रकृति सम्बन्ध से घबड़ाये हुये भाग्यमानों को वेदान्त में कहा गया "अमृत" जो देवताओं को भी दुर्लभ है "उत्तम सार वस्तु" मूलमन्त्र को आचार्यों ने ढूढा है ॥८॥

शाखानामुपरिस्थितेन मनुनामूलेनलब्धात्मक,
स्सत्ता हेतु सकृज्जपेन सकलं कालं द्वयेनद्विपन्।
वेदोत्तंसविहारसारथि दया गुम्फेन विश्रम्भितः,
सारज्ञोयदिकश्चिदस्ति भुवने नाथः सयूथस्सनः ॥९॥

अर्थ—आत्म तत्त्व परमात्मा के लिये है इस तरह उपनिषद् में कहे हुये मूल मन्त्र के अर्थों से जो ज्ञान प्राप्त कर लिया और एक बार के उच्चारण से पुरुषार्थ सिद्ध करने वाला द्वयमन्त्र से निरन्तर कालक्षेप करता हो ऐसा ही वेद का शिरोभाग वेदान्त में विहार करने वाले भगवान श्री कृष्ण की दया से चरम मन्त्र का अटल विश्वासी; संसार में यदि कोई हो तो सब परिजनों सहित मेरा वह नाथ, स्वामी है ।।९।।

प्रधानप्रतितन्त्राधिकारः

आधेयत्व प्रभृति नियमैरादि कर्तुश्शरीरं,
सत्ता स्थेमप्रयतन फलेष्वेतदायत्तमेतत् ।
विश्वं पश्यन्निति भगवति व्यापकादर्श दृष्टे,
गम्भीराणामकृतक गिरां गाहते चित्त वृत्तिम् ।।१०।।

अर्थ—सम्पूर्ण विश्व की सत्ता स्थिति एवं प्रलय करने वाला, सभी चेतन और अचेतन जड़ वर्ग का धारक नियामक और शेषी स्वामी को बताने वाला वह व्यापक मूल मन्त्र, उस दर्पण में देखकर दुर्बोध वेद बचनों का अभिप्राय भगवान में ही है यह अच्छी तरह जाना जा सकता है ।१०।।

यद्येतंयति सार्वभौम कथितं विद्याद्विद्यातमः,
प्रत्यूषं प्रतितन्त्र मन्तिम युगे कश्चिद्विपश्चित्तमः ।
तत्रैकत्र झटित्यु पैतिविलयं तत्तन्मतस्थापना,
हे वाक् प्रथमान हेतुक कथा कल्लोल-कोलाहलः ।।११।।

अर्थ—मूल मन्त्र में जो शरीर शरीरी भाव बताया गया जिसे भगवान भाष्यकार श्री रामानुज यतीद्र ने अपने श्री भाष्य में श्रुति स्मृति बचनों से सिद्ध किया है। अविद्या अन्धकार को दूर करने वाला इस प्रधान सिद्धान्त को कोई ज्ञानी आज कलियुग में भी यदि जाने तो उसके सामने बड़े बड़े मतस्थापकों का कोलाहल समाप्त हो जायगा ११।।

अर्थपञ्चकाधिकारः

आदौ प्राप्यंपरम मनघ प्राप्तृ रूपञ्चमादा,
विष्टोपायन्त्वयन नमसोरीप्सितार्थं चतुर्थ्या ।

तद्वयाघातं मम कृति गिरि व्यञ्जयन्तं मनुतं,
तत्प्रायं च द्वयमपि विदन् सम्मतः सर्व वेदी ॥१२॥

अर्थ—सम्पूर्ण दुर्गुणों से रहित और समस्त कल्याण गुणों से युक्त भगवान नारायण प्रभु प्रणव के "अकार" शब्द से कहे जाते हैं। अन्तिम "मकार" से जीव चेतन और "अयन" तथा "नम" शब्द से फल प्राप्ती का साधन बताया जाता है। पुरुषार्थ आय चतुर्थी विभक्ति से और उसका बाधक "मम" शब्द बताता है। इस तरह अर्थ पञ्चक बताने वाला यह मूल मन्त्र है। द्वय-मन्त्ररत्न भी इसी अर्थ को बताता है। इन मन्त्रार्थों को जानने वाला ही वह सब शास्त्रों का ज्ञाता हैं ।१२॥

प्राप्यंब्रह्म समस्त शेषिपरमं प्राप्ताहमस्योचितः,
प्राप्तिर्दायधनक्रमादिहमम प्राप्ता स्वतः सूरि वत्।
हन्तैना मति वृत्तवानह महं मत्याविमत्याश्रयः,
सेतुस्सम्प्रतिशेषि सम्पदि भरन्यासस्तु मे शिष्यते ॥१३॥

अर्थ—निखिल दोष रहित सम्पूर्ण मङ्गलगुणों से युक्त चेतन और अचेतन का स्वामी ब्रह्म ही प्राप्य है। जीव चेतन हम हैं स्वाभाविक प्राप्ता, और प्राप्तीरूप फल प्रीति पूर्वक भगवत्कैंकर्य्य है। जो कि दिव्य सूरियों की तरह दाय भाग रूप स्वरूपसिद्ध हमारा अधिकार है किन्तु दूर्भाग्य वश देहात्माभिमान दुर्मति के कारण हम उससे वञ्चित हो गये हैं। अब उस कैंकर्य साम्राज्य पाने के लिये एक मात्र भरन्यास करना शेष है। श्री मन्नारायण ही हमारे परम प्राप्य हैं बद्ध संसारी चेतन ही हम प्राप्ता और भगवत्कैंकर्य्य ही प्राप्ती का फल जिसका विरोधी देहात्माभिमान और देहानुबन्धियों में ममता है। उद्धारक एक मात्र भरन्यास ही है। इस तरह का अर्थपञ्चक सभी अध्यातम शास्त्रों में विस्तार पूर्वक कहा गया है ॥१३॥

तत्वत्रयाधिकारः

प्रकृत्यात्म भ्रान्ति गलति चिदचिल्लक्षणधिया, इन
तथा जीवेशैक्य प्रभृतिकलह स्तद्विभजनात्। ला की

अतो भोग्यं भोक्ता तदुभय नियन्तेति निगमै,
विभक्तं न स्तत्त्वं त्रयमुपदिशन्त्वद्गतधियः ॥१४॥

अर्थ—चेतन स्वयं प्रकाश और नित्य है। अचेतन जड़ परिणाम स्वरूप स्वभाव का है। दोनों के अलग अलग लक्षणों का ज्ञान होने से देहात्मभ्रम दूर होता है। ऐसे ही जीव ईश की एकतारूप भ्रम भी परार्थ परतन्त्र और स्वतः स्वतन्त्र एवं नियमनयोग्य और नियामक रूप लक्षणों से दूर हो जाता है। जीव भोक्ता प्रकृति भोग्य और प्रकृति पुरुष दोनों का नियामक परमात्मा वेदान्त शास्त्रों में अलग-अलग लक्षण किया गया है। इस प्रकार से तत्त्वत्रय का उपदेश आचार्यो ने बताया है ॥१४॥

अवापोद्वापतः स्युः कति कति कविधी चित्रवत्तत्तदर्थे,
ष्वानन्त्यादस्ति नास्त्यो रनवधि कुहना युक्ति कान्ताः कृतान्ताः।
तत्वालोकस्तु लोप्तुंप्रभवति सहसा निःसमस्तान समस्तान्,
पुंस्त्वेतत्वेन दृष्टे न च भवति पुनः प्राणिता स्थाणुताधीः ॥१५॥

अर्थ—तत्त्वों के विषय में अनेक सिद्धान्त मिलते हैं। कुछ तत्त्वों की संख्या घटाया या उसमें और बढ़ाया फिर तर्क देकर कहा कि यहीं उचित है यह नहीं इस तरह हाँ नां करके अनेक सिद्धान्त बुद्धिमान् लोग सामने खड़ा कर देते हैं। किन्तु प्रकाश शालिनी बुद्धि के सामने यह सब कल्पित सिन्द्धान्त सदा के लिये लुप्त हो जाते हैं। जैसे किसी पुरुष में वृक्ष का भ्रम तब ही तक रह सकता है जब तक की पुरुष का पूर्ण आकार (कर चरण मुख) ज्ञात नहीं हो जाता अतः तत्त्वत्रय से अधिक या कम तत्त्व शास्त्रों में नहीं हैं ॥१५॥

परदेवतापारमार्थ्याधिकारः

आत्मैक्यं दैवतैक्यं त्रिक समधिकता तुल्यतैक्यं त्रयाणाम,
अन्यत्रैश्वर्य्यं मित्याद्यनुपुण भणिति राद्रियन्तेनसन्तः।
त्रय्यन्तै रेक कण्ठै स्तदनुगुण मनुव्यासमुख्योक्तिभिश्च,
श्रीमन्नारायणो नः पतिरखिल तनु मुक्तिदोमुक्त भोग्यः ॥१६॥

र्थ—कुछ लोग कहते हैं कि पर देवता तीनों ब्रह्मा बिष्णु महेश

देवों से अतिरिक्त ही ब्रह्म है। और कुछ लोग इन तीनों को बराबर मानते हैं। इसी तरह तीनों को तत्त्वतः एक ही अभेद मानने वाले भी हैं। और कुछ लोग विष्णु से अलग ही परदेवता बताते हैं। यहाँ तक की सृष्टि के पहले अन्धकार एवं शून्य ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है। यह सब बिचारहीनों की धारणा है। देव की उत्कृष्टता समझने वाले ऐसे विचारों का आदर नहीं करते। जिस परतत्त्व को वेदान्त एक स्वर से कहता है और उसके यथार्थ ज्ञाता मनु वेदव्यास स्मृति और इतिहासकारों ने माना है सम्पूर्ण चेतन अचेतन जगत् का पति और मुक्ति देने वाला तथा मुक्त लोग जिसका अनुभव करते हैं वह श्री पति श्री मन्नारायण हैं ॥१६॥

जनपद भुवनादि स्थान जैत्रासनस्थे,
ष्वनुगत निज वार्त्तं नश्वरेष्वीश्वरेषु।
परिचित निगमान्तः पश्यति श्रीसहायं
जगति गतिमविद्यादन्तुरे जन्तुरेकः ॥१७॥

अर्थ—ब्रह्माण्ड के स्वामी और उसके भीतर इन्द्रादि लोक में रहने वाले जो कर्म से लोक लोकान्तर में गये हुये हैं। वे सब कर्मक्षय के बाद नष्ट हो जायँगे और फिर उनको वहां से आना पड़ेगा। यह सुनकर अविद्या से बने हुये नीचे ऊँचे इस जगत में वेदान्त का ज्ञान प्राप्त कर कोई एक ही चेतन अपना परमगति श्रियः पति भगवान को मानता है ॥१७॥

मुमुक्षुत्वाधिकारः

कालावर्तान् प्रकृतिविकृती काम भोगेषु दोषान्,
ज्वालागर्तं प्रतिम दुरितोदर्कं दुखानुभूतिम्।
याथातथ्यं स्वपर नियतं यच्चदिव्यं पदंतत्कारा,
दल्प वपुरपि विदन् कस्तितिष्ठेत् बन्धम् ॥१८॥

अर्थ—शीत उष्ण बात वर्षाओं से भरा हुआ काल और मल प्रकृति महदादि अहंकार एवं पञ्चतन्मात्रा रूप विषय तथा स्वर्गादि देवलोक इन सबके अनुभवों में अल्प और अस्थिरतादि दोषों से अग्नि ज्वाला की

भाँति दाहक लगते हैं और बाद में दुख की परम्पराओं का अनुभव कराते हैं। अतः चेतन का स्वाभाविक सम्बन्ध भगवान से शेष शेषी भावरूप है और उनके दिव्यपद का ज्ञान होने पर फिर यह शरीर ही बन्दीगृह की तरह मालूम होने लगता है। संसार बन्धन वह कैसे सह सकता हैं ! ॥१८॥

विषमिव वहिष्कुर्वन्धीरो वहिर्विषयात्मकं,
परिमित रस स्वात्मप्राप्ति प्रयास पराङ्मुखः।
निरवधि महानन्द ब्रह्मानुभूति कुतुहली,
जगतिभविता दैवात् कश्चिज्जिहासति संसृतिः ॥१९॥

अ०—धीर पुरुष तो शब्द स्पर्श रूप रसादि विषयों को विष की तरह वहिष्कार कर और स्वर्गादि ऐश्वर्य्य भी अन्ततोगत्वा दुख देने वाला ही होता है उसे भी त्यागकर सीमित आनन्द देने वाला आत्मानुभव कैवल्यपद से भी मुख मोड़कर निःसीम परमानन्द ब्रह्म के अनुभव में उत्सुक कभी कोई भाग्यवान ही होता है ? अर्थात् भगवदनुभवी दुर्लभ हैं ॥१९॥

अधिकारविभागाधिकारः

मुमुक्षुत्वेतुल्ये सति च मधुविद्यादिषु यथा,
व्यवस्था संसिद्धेदधिकृतविशेषेणविदुषाम्।
विकल्पेत न्यासेस्थितिरितर विद्यादिषु च तथा,
नियत्या वैजात्यं नियमयितुमेवंप्रभवति ॥२०॥

अ०—मोक्ष की इच्छा समान होने पर भी उपनिषद में कही हुई अनेक ब्रह्मविद्याओं में से किसी एक का ही उपासक मुमुक्षु होता है। उसी तरह भक्ति प्रपत्तिका व्यवस्थित (अधिकारानुसार) सम विकल्प है। और सुकृत की विचित्रता से यह अधिकार भेद होता है। सर्वज्ञ स्वतन्त्र भगवान इसकी व्यवस्था करते हैं ॥२०॥

प्रपन्नादन्येषां न दिशति मुकुन्दोनिजपदं,
प्रपन्नश्च द्वेधा सुचरित परीपाक भिदया।

विलम्बेनप्राप्तिर्भजनसुखमेकस्य विपुलं,
परस्याशु प्राप्तिः परिमित रसा जीवित दशा ॥२१॥

अ०—मुकुन्द भगवान अपना निज पद बैकुण्ठ प्रपन्न को ही देते हैं। वे प्रपन्न भी पुण्य परिपाक से दो प्रकार के होते हैं। जिसमें एक प्रपन्न को वैकुण्ठ प्राप्ति विलम्ब से होती है किन्तु जीवनकाल में भजन का सुख उसको अत्यधिक होता रहता है। दूसरे प्रपन्न को भगवत् प्राप्ती शीघ्र होती है परन्तु जीवन काल में सीमित सुख रहता है क्योंकि विरह की अधिकता से भजन ध्यानादि में उसका मन नहीं रमता है ॥२१॥

उपायविभागाधिकारः

उपायः स्वप्राप्तेरुपनिषदधीतस्स भगवान,
प्रसत्यै तस्योक्तेः प्रपदन निदिध्यासनगती।
तदारोहः पुंसस्सुकृत परिपाकेन महता निदानं,
तत्रापि स्वयमखिल निर्माण निपुणः ॥२२॥

अ०—वात्सल्य सौशील्य आदि गुणों से युक्त भगवान अपनी प्राप्ती का स्वयं उपाय-साधन-उपनिषदों में कहे गये हैं। उस सिद्धोपाय की प्रसन्नता के लिये भक्ति प्रपत्ति शास्त्रों में बताई गई है। महान् पुण्य के परिपाक से भक्ति अथवा प्रपत्ति में चेतनों की प्रवृत्ति होती है। उस पुण्य परिपाक के ज्ञाता एवं मुख्य कारण भी प्रभु ही है ॥२२॥

कर्मज्ञान मुपासनञ्चशरणं ब्रज्येति चावस्थितान्,
सन्मार्गानपवर्ग साधनविधौ सद्वारका द्वारकान्।
एक द्व्याकृतियोग सम्भृत पृथक् भावानुभावानिमान्,
सम्यक् प्रेक्ष्य शरण्य सारथि गिरामन्ते रमन्ते बुधाः ॥२३॥

अ०—शास्त्रों में कर्म ज्ञान उपासना शरणागति को मोक्ष का साधन कहा गया है। इनमें से कुछ तो साक्षात् साधन हैं और कुछ साधन के अङ्ग रूप में सहायक बनने वाले हैं। कर्मज्ञान यह दोनों भक्ति के अङ्ग हैं और भक्ति ही मोक्ष का साक्षात् साधन है। शरणागति-प्रपत्ति, भक्ति का अङ्ग होती हुई कहीं तो वह भी स्वतन्त्र मोक्ष

का साक्षात् साधन कही गई है। इसलिये इन सभी मोक्ष साधनों को द्वार द्वारी भाव साक्षात् या परम्परा से मोक्ष का साधन सन्मार्ग कहा जाता है। विद्वान् लोग इन सबों में गुरुलाघव और अधिकार का अच्छी तरह विचार करके श्री गीताचार्य भगवान की अन्तिम श्री सूक्ति 'सर्वधर्मान्' में ही रमते हैं ॥२३॥

प्रपत्तियोग्याधिकारः

अर्थित्वेन समर्थता त्रिक तनुः सम्पिण्डिता धिक्रिया,
साचाष्टाङ्ग षडङ्गयोगनियता वस्थाव्यवस्थापिता।
श्रौती सर्व शरण्यता भगवतः स्मृत्यापि सत्यापिता,
सत्यादिष्विव नैगमे ष्वधिकृतिस्सर्वास्पदे सत्पथे ॥२४॥

अ०—भक्ति में तीन कारणों से अधिकार होता है। ज्ञान अनुष्ठान और शास्त्रीय योग्यता रूप सामर्थ्य चाहिये। इन तीनों में से किसी एक की भी कमी न हो और योगशास्त्रोक्त आठों अङ्ग की तरह प्रपत्ति शास्त्र में बताया छः अङ्गों से युक्त यह प्रपत्ति है भक्ति केवल द्विजाति मात्र के लिये ही अनुष्ठेय शास्त्रों में बताया गया है। भगवान की शरणागति में यह नियम नहीं है वे सबके शरण्य एवं सुहृद श्रुति स्मृति शास्त्रों में कहे गये है। इसलिये यह शरणागति प्रपत्ति वेदोक्त होने पर प्राणीमात्र इसका अधिकारी कहा जाता है। वेदों में सत्य बोलना सभी के लिये जैसे कहा गया प्रपत्ति भी वैसे ही सब के लिये उपनिषद में बताई गई है ॥२४॥

भक्त्यादौ शक्त्यभावः प्रमिति रहितता शास्त्रतः पर्य्युदासः,
कालक्षेपाक्षमत्वं त्विति नियति वशादापतद्भिश्चतुर्भिः।
एकद्वित्र्यादि योगव्यतिभिदुर निजाधिक्रियाः संश्रयन्ते,
सन्तःश्रीशंस्वतन्त्रप्रपदनविधिना मुक्तये निर्विशंका ॥२५॥

अ०—कर्मज्ञान भक्ति में ज्ञान का अभाव अनुष्ठान की असमर्थता और शास्त्राज्ञा का न मिलना एवं मोक्ष में विलम्ब न रहने की क्षमता यह सब दैववश चारों कारणों के आजाने से और इन चारों में से किसी एक की भी कमी होने पर मुमुक्षुओं का भक्तिप्रपत्ति में अपने अपने

अधिकार का भेद हो जाता है। इसको समझ कर मोक्षार्थी स्वतन्त्र प्रपति निष्ठ होकर महानुभाव श्रीश भगवान् श्रीमन् नारायण का आश्रयण लेकर निश्चिन्त हो जाते हैं ।।२५।।

परिकरविभागाधिकारः

इयानित्थंभूतस्सकृदयमवश्यं भवनवान,
दयादिव्याम्भोधौ जगदखिल मन्तर्यमयति ।
भवध्वन्सोद्युक्ते भगवति भरन्यास वपुषः,
प्रपत्ते रादिष्टः परिकर विशेषश्श्रुति मुखैः ।।२६।।

अ०—अखिल जगत् के नियन्ता ! दयार्णव भगवान ! चेतनों के जन्म जरा मरणरूप दुख विनाश करने के लिये जब उद्यत है तब केवल अपने भार को उन्हें सौंप देना बस इतना ही चेतन का कर्तव्य कार्य है। वेदान्त इसको ही प्रपत्ति बताया है। आनुकूल्य संकल्प आदि पांचों अङ्गों से युक्त और एक ही बार होने वाली इस प्रपत्ति को अवश्य करना चाहिये ।।२६।।

अख्यातः पञ्चषाङ्गः सकृदिति भगवच्छासनै रेष योग,
स्तत्र द्वाभ्यामपायाद्विरति रनितरो पायतैकेन बोध्या ।
एकेनस्वान्त दार्ढ्यं निजभरविषयेऽन्येन तत्साध्य तेच्छा,
तत्र ज्ञान प्रयुक्तास्त्विह सपरिकरे तादधीन्यादि बुद्धिः ।।२७।।

अ०—यह प्रपत्ति योग पाँच अङ्ग या छः अङ्गों से युक्त एक ही बार सदाचार्य द्वारा प्रयोग करने को शास्त्रों में कहा गया है। उसमें आनुकूल्य संकल्प प्रातिकूल्य वर्जन से शास्त्रोक्तनिषिद्ध सभी कर्मों का वर्जन कहा जाता है। कार्पण्य (दैन्य) से उपायान्तर में प्रपन्न की अयोग्यता-अनधिकार बताया जाता है और महाविश्वास से अन्तःकरण की निश्चलता सिद्ध की जाती है। दूसरे गोप्तृत्व वरण से अपने अभीष्ट अर्थों की सिद्धि में अवश्यंभावी निर्भरता बताई गई। इस तरह साङ्ग-प्रपत्ति में ईश्वराधीन की भावना परिपुष्ट होती है और शेषत्व ज्ञान से हम प्रभु के है यह निर्भयता आती है ।।२७।।

सांगप्रपदनाधिकारः

अभीष्टे दुस्साध्ये स्वत इतरतो वा क्वचन,
तद्धुरन्यासं याञ्चान्वित मभिवदन्तिप्रपदनम् ।
इतः पश्चादस्मद्यतननिरपेक्षेणभवता,
समर्थोऽसावर्थे स्त्वितिमति विशेषं ननुविदुः ॥२८॥

अ०—अपने अभीष्ट मनोरथ की पूर्ति स्वयं अथवा अपनी तरह अन्य किसी से जब नहीं होती तब समर्थ-कारुणीक किसी से प्रार्थना पूर्वक याचना करता है कि मेरे मनोरथ की सिद्धि आप करदें उस अभीष्ट सिद्धि का जो भार है उन्हें सौंप देना इसी को ऋषियों ने प्रपत्ति मानी है। जो कि ज्ञान रूप है इसीलिये प्रपन्न कहता है कि अब इस कार्य सिद्धि के लिये मेरे प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है। आप इसकी सिद्धि में स्वयं समर्थ हैं ॥२८॥

युग्य स्यन्दन सारथिक्रमवति त्रय्यन्त सन्दर्शिते,
तत्त्वानां त्रितते यथार्हविविध व्यापार सन्तानिनि ।
हेतुत्वं त्रिषु कर्तृ भाव उभयोः स्वाधीनतैकत्र,
तत्स्वामि स्वीकृतयद्धुरोयमलसस्तत्र स्वयं निर्भरः ॥२९॥

अ०—यह चेतन रथ खींचने वाला घोड़ा है प्रकृति ही रथ है और ईश्वर सारथी। इस तरह चिदचिद् ईश्वर तीनों तत्त्वों का रूपक वेदान्त शास्त्र में मिलता है। पुरुषार्थ परिणाम और नियमन यह तीनों का अपना अपना व्यापार भी बताया गया। सृष्टि स्थिति मोक्ष का हेतु तीनों ही हैं परन्तु कर्तापन दोनों चेतनों में ही है उसमें भी स्वातन्त्र्य ईश्वर का ही, स्वामी ने जिस भार को स्वीकार कर लिया जिसमें कि मैं सर्वथा असमर्थ ही था फिर उसके लिये नहीं शोचना और स्वामी पर निर्भर रहना है ॥२९॥

कृतकृत्याधिकारः

समर्थे सर्वज्ञे सहज सुहृदि स्वीकृत भरे,
तदर्थे कर्त्तव्यं न पुनरिहं यत्किञ्चिदपिनः ।
नियच्छन्तस्तस्मिन्निर वधि महानन्द जलधौ,
कृतार्थी कुर्मः स्वंकृपणपि कैङ्कर्यधनिनः ॥३०॥

अ०—समर्थ सर्वज्ञ सहज सुहृद भगवान ने जब मोक्ष साधन के भार को स्वीकार कर लिया तब फिर उसके लिये अब कर्त्तव्य शेष नहीं रह गया। परन्तु परमानन्द प्रभु में समर्पित हमें अपने को उनकी प्रसन्नता के लिये कैंकर्य्य सम्पत्ति चाहिये। पहले जिसके लिये हम दीन थे आज उससे सम्पन्न होकर कृतार्थ होना है ॥३०

भगवतिहरौ पारंगन्तु भर न्यसनं कृतं,
परिमित सुख प्राप्त्यै कृत्यं प्रहीण मकृत्यवत्।
भवति च वपुर्वृत्तिः पूर्वंकृतैर्नियतक्रमा,
परमिहविभोराज्ञा सेतुर्बुधैरनुपाल्यते ॥३१॥

अ०—संसार से पार जाने के लिये भगवान में हम भर न्यास कर लिये और परिमित सुख ऐश्वर्य्य एवं कैवल्य के लिये कर्त्तव्य कर्म को निषिद्ध समझ कर छोड़ दिये। रही शरीर यात्रा वह तो पूर्व कर्मों के अनुसार निश्चित ही है उसमें प्रयत्न की कोई आवश्यकता ही नहीं। आत्म समर्पण के बाद अब केवल भगवदाज्ञा कैंकर्य्यरूप मर्य्यादा का पालन ही शेष कर्त्तव्य है ॥३१॥

स्वनिष्ठाभिज्ञानाधिकारः

स्वरूपोपायार्थेष्ववितथ निविष्ट स्थिरमतेः,
स्वनिष्ठा भिज्ञानं सुभगमपवर्गादुपनतात्।
प्रथिम्ना यस्यासौ प्रभवति विनीतः स्थगयितुम्,
गभीरान् दुष्पूरान् गगन महतः छिद्र निवहान् ॥३२॥

अ०—स्वरूप भगवान का शेष होना; उपाय मोक्षार्थ भगवान की प्रपत्ति और पुरुषार्थ भगवद्गुणानुभव एवं कैंकर्य्य इन तीनों को अच्छी तरह जानने वाला प्रपन्न अपनी निष्ठा का परिचय स्वयं पा लेता है जो कि भावी मोक्ष की पहिचान है। आचार्य वश्य अपनी निष्ठा की महिमा से महान् कठिन और आकाश की तरह विशाल पुत्रवित्त लोकेषणा आदि विघ्न समूहों को दूर करने में समर्थ होता है। अनन्य शेषत्व और अनन्योपायत्व एवं अनन्य प्रयोजनत्व रूप होने से स्वरूपोपायपुरुषार्थ में अच्छी स्थिति प्राप्त कर लिया है ॥३२॥

स्वापोद्बोध व्यतिकर निभेभोगमोक्षान्तराले,
कालं कश्चिज्जगति विधिना केनचित् स्थाप्यमाना:।
तत्त्वोपायप्रभृतिविषये स्वामिदत्तां स्वनिष्ठां शेषां,
कृत्वा शिरसि कृतिनश्शेष मायुर्नयन्ति ॥३३॥

अ०—जागरण और निद्रा के बीच अवस्था की भांति प्रपन्न का यह भोग-मोक्ष के बीच का समय चल रहा है। उसमें किसी कारण वश रहता हुआ प्रपन्न स्वस्वरूप और स्वरूपानुरूप उपाय तथा पुरुषार्थ के लिये स्वामी से प्राप्त निष्ठा निश्चय को 'सम्मानपट्ट' वस्त्र की तरह लेकर अब शेष जीवन का कालक्षेप करता है ॥३३॥

उत्तरकृत्याधिकार:

सन्तोषार्थं विमृशतिमुहु: सद्भिरध्यात्म विद्यां,
नित्यं ब्रूतेनिशमयति चस्वादुसुव्याहृतानि।
अङ्गी कुर्वन्ननघ ललितां वृत्तिमादेहपातात्,
दृष्टादृष्ट स्वभर विगमेदत्त दृष्टि: प्रपन्न: ॥३४॥

अ०—प्रपन्न जन प्रपत्ति के उत्तर काल में परम भागवतों के साथ जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप बताने वाले आध्यात्म शास्त्रों के अनुशीलन में अपना समय बिताते हैं। निषिद्ध और काम्य कर्मों के ज्ञान की चर्चाओं को छोड़कर केवल मोक्षप्रधान शास्त्रों का ही उपदेश अपने शिष्यों को देते हैं। स्वयं भी आचार्यों से यही भगवद्विषय श्रवण करते हैं। उपाय और अपाय दोनों को छोड़ कर फलरूप अपनी दिन चर्य्या से ही देहावधि कालक्षेप करते हैं। देहयात्रा कर्माधीन है और आत्म यात्रा भगवदधीन हो जाने पर अब दोनों का भार अपने ऊपर से हट गया हैं। यही उनका अपना निश्चय है ॥३४॥

प्रणयिनमिव प्राप्तंपश्चात्प्रिया स्वसमन्वितं,
महतिमुहुरामृष्टे दृष्ट्वामनोमणि दर्पणे।
प्रपदनधना:सन्त: शुद्धै: प्रभुंपरिभुञ्जते,
प्रसृमर महा मोद स्मेर प्रसून समै: क्रमै: ॥३५॥

अ०—प्रपन्न जन अपने महान् मूलमन्त्र के अनुसन्धान में स्वामी के

आश्लेष का अनुभव करते हैं। जैसे कोई नायिका स्वच्छ दर्पण में अपने एवं अपने प्रियतम को देखकर पश्चात् आनन्दानुभूति करती है। अपने परम धन प्रपत्ति का परिपालन करता हुआ प्रपन्न मूलमन्त्र में स्वस्वरूप एवं परस्वरूप के अनुसन्धान से परम विशुद्ध सुगन्धमय पुष्प की भाँति भगवद्गुणानुभव कैंकर्य्य की आनन्दानुभूति प्राप्त करता है ॥३५॥

पुरुषार्थकाष्ठाधिकारः

स्वतन्त्रः स्वामित्वात्स्वबहुमति पात्रेषुनियतं,
श्रियः कान्तो देवः सखलु विनियुङ्क्ते चिदचितौ।
यथा लोकाम्नायं यतिपतिमुखै राहितधियां,
ततो नः कैंकर्य्यं तदभिमतपर्य्यन्तमभवत् ॥३६॥

अ०—स्वतन्त्र स्वामी श्रीकान्त भगवान अपने प्रिय भागवतों में चेतन और अचेतन का यथेष्ट विनियोग करते हैं। संसार में देखा जाता है कि गृह का स्वामी अपने भृत्य को पुत्र पत्नी परिवार की सेवा में लगा देता है। वैसे ही शास्त्रों में भी भगवान आज्ञा देते है कि हमसे हमारे भक्त की सेवा श्रेष्ठ है। ऐसा ही ज्ञान श्री भाष्यकार अपने शिष्य प्रशिष्यों को देते हैं। इसलिये भगवत् शेषत्व की सीमा भागवत शेषत्व है। लोकशास्त्र और आचार्य परम्परा सब के सब भागवत कैंकर्य्य को बताते हैं ॥३६॥

नाथे नस्तृण मन्य दन्य दपिवा तन्नाभिनालीकिनी,
नालीक स्पृहणीय सौरभमुचा वाचा न याचामहे।
शुद्धानान्तु लभेमहि स्थिरधियां शुद्धान्त सिद्धान्तिनां,
मुक्तैश्वर्य दिन प्रभात समया सक्तिं प्रसक्तिं मुहुः ॥३७॥

अ०—हमारे नाथ स्वामी से अतिरिक्त ऐश्वर्य्य कैवल्य और मोक्ष रूप पुरुषार्थ को हम नगण्य समझते हैं। भगवान के नाभि कमल पराग की सुगन्ध वाली इस वाणी से हम अन्य याचना नहीं कर सकते किन्तु शुद्ध स्थिर बुद्धि वाले और परिशुद्ध अन्तः पुर के सिद्धान्त का अनुवर्तन शील भागवतों के मुक्ति रूप दिन का प्रातः कालीन प्रसन्नता को बार-म्बार चाहते हैं ॥३७॥

शास्त्रीयनियमनाधिकारः

मुकुन्दे निक्षिप्य स्वभर मनघो मुक्तवदसौ,
स्वतन्त्राज्ञासिद्धां स्वयमविदितस्वामि हृदयः।
परित्यागेसद्यः स्वपर विविधानर्थजनना,
दलंघ्या मामोक्षा दनुसरति शास्त्रीय सरणिम् ॥३८॥

अ०—मुकुन्द भगवान में अपना भार समर्पण कर पाप रहित हो प्रपन्न मुक्त की तरह रहता है। स्वयं तो स्वामी का अभिप्राय शास्त्र के बिना जान नहीं सकता इसलिये स्वतन्त्र स्वामी की शास्त्राज्ञा का उलंघन कर यह प्रपन्न अपना और अपने अनुयायी शिष्य पुत्रों का अनर्थ नहीं करता। अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के पूर्व शास्त्रीय मार्गों का अनुसरण अवश्य करता रहेगा ॥३८॥

श्रुति स्मृत्याचारैः स्वमतिगतिभिः शुद्ध मनसां,
स्वसंकल्पै धर्म्यैः कुल चरण देशादि समयैः।
नियोगैर्योग्यानां नियमयितुरादेरभिमतं,
निमित्त स्वप्नाद्यै रपिनिपुण मन्विच्छति वुधः ॥३९॥

अ०—श्रुतिस्मृति सदाचार और तीर्थ यात्रा से शुद्धचित्त वाले अपने संकल्प कुल गोत्र और चरण तथा देश के अनुसार कर्तव्य कर्मों से प्रत्येक समय में भगवान के अभिमत कैंकर्य्य में लगा रहेगा। कर्तव्य कर्मों के आचरण से शुद्धान्तः करण पुरुष मिलना ही दुर्लभ है। तत्त्व ज्ञानी तो और ही कठिन हैं सबसे महान् दुर्लभ भागवतों का अनुवर्तन करने वाला होता है ॥३९॥

अपराधपरिहाराधिकारः

स्वच्छ स्वादु सदावदात सुभगां दैवादयं,
देहभृन्मालिन्य प्रशमाय माधव दया मन्दाकिनीं विंदति।
यद्यप्येवमसावसारविषय स्रोतः प्रसूतैः पुनः,
पङ्कैरेव कलंकयन् निजतनुंप्राज्ञैर्नसंश्लिष्यते ॥४०॥

अ०—प्रपन्न जन शरणागति के बाद शुद्ध होने पर कदाचित् इस असार संसार के शब्दादि विषय स्पर्श से अपने को कलंकित न समझें? तो भी समस्त देहधारियों की मलीनता दूर करने वाली और

अत्यन्त पवित्र ऐश्वर्य्यं कैवल्य मोक्ष देने वाली माधव भगवान की दया गंगा में फिर से स्नान करते हैं अर्थात् पुनः प्रायश्चित प्रपदन करके फिर परिशुद्ध हो जाते हैं ॥४०॥

प्रारब्धेतर पूर्वपाप मखिलं प्रामादिकञ्चोत्तरं,
न्यासेन क्षपयननभ्युपगत प्रारब्ध खण्डञ्च नः।
धीपूर्वोत्तर पाप्मनामजननाज्जातेऽपि तन्निष्कृतेः,
कौटिल्ये सतिशिक्षयाऽप्यनघयनक्रोडी करोति प्रभुः ॥४१॥

अ०—प्रारब्ध से भिन्न सम्पूर्ण पूर्व पुण्य पाप और प्रमाद वश प्रपत्ति के उत्तर काल का पुण्य पाप सब प्रपन्न का भरन्यास के द्वारा विनाश हो जाता है! प्रारब्ध में भी जो अभी फलोन्मुख नहीं हुआ वैसा प्रारब्ध खण्ड पुण्य पाप भी न्यास से क्षय हो जाता है। प्रपत्ति के उत्तर काल में बुद्धि पूर्वक प्रपन्न पुण्यपाप करेगा ही नहीं कदाचित् पाप हो जाय तो शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त या पुनः प्रपत्ति द्वारा उसे क्षमा करालेगा। कठिन स्वभाव के नाते शास्त्रोक्त या प्रायश्चित्तप्रपत्ति दोनों में से कोई नहीं किया तो दयालु भगवान शिक्षा (दण्ड) देकर परिशुद्ध बना लेते हैं प्रपन्न का परित्याग कभी भी नहीं करते ॥४१॥

स्थान विशेषाधिकार

यत्रैकाग्रं भवति भगवत्पाद सेवार्चनादे,
यत्रैकान्त्यव्यवसितधियो यस्य कस्यापि लाभः,
वासस्थानं तदिह कृतिनां भाति वैकुण्ठकल्पं,
प्रायोदेशा मुनिभिरूदिताप्रायिकौचित्यवन्तः ॥४२॥

अ०—भगवद् भागवताराधन के उपयुक्त जो स्थल हो सेवा सामग्री जहाँ मिलती हो और मन की स्थिरता जहां हो सके वैसे ही परमैकान्ति महा भागवतों का लाभ जहाँ प्राप्त हो सात्विकों के निवास योग्य वही स्थान कहा गया है। इस संसार में बैकुण्ठ की तरह रहने योग्य वही स्थल है। मुनि जनों ने अयोध्या आदि पुण्य स्थलों की चर्चा इसी अभिप्राय से की है। नियम आदेश नहीं है ॥४२॥

साकाशीति न चाकशीति भुवि साऽयोध्येति नाध्यासते,
सा वन्तीति न कल्मषादवति सा काञ्चीति नोदञ्चति।
धत्तेसामथुरेति नाग्रिमधुरं नान्यापि मान्या पुरी,
या वैकुण्ठ कथा सुधारसभुजां रोचेत नो चेतसे ॥४३॥

अ०—जिस धाम या पुरी में भगवान बैकुण्ठ नाथ की कथा के रसिक भोक्ताओं का चित्त न रमे तो वह इस संसार में प्रकाशमान काशी है इस हेतु से उसका कोई महत्व नहीं है। शत्रु कामक्रोध आदि के युद्ध योग्य नहीं इस कारण से अयोध्या का अपना महत्व नहीं है ऐसे ही पाप रक्षण से अवन्तिका पुरुषार्थ देने से काञ्ची और अग्रिमधुर से मथुरा आदि की प्रधानता नहीं कही जा सकती। भागवताभिमान से रहित कोई भी पुण्य स्थली क्यों न हो वह वास करने योग्य नहीं है ॥४३॥

निर्याणाधिकार

मनसि करणग्रामं प्राणे मनः पुरुषे च तं,
झटिति घटयन्भूतेष्वेनं परे च तमात्मनि।
स्वविदविदुषो रित्थं साधारणे सरणे मुखे,
नयति परतो नाडीभेदैर्यथोचितमीश्वरः ॥४४॥

अ०—सर्व नियन्ता प्रभु प्रपन्न के अन्तिम प्रयाण काल में ज्ञान कर्म और सब इन्द्रियों के समूहों को मन में मिला देते हैं। और मन को प्राण के पास प्राण को अहंकार में मिलाकर फिर उसको जीवात्मा के साथ मिलना यहाँ तक का यह प्रयाण क्रम ज्ञानी अज्ञानी दोनों के लिये सामान्य रूप से है। आगे पुण्यात्माओं को ऊपर से और पापात्माओं को नीचे की नाडी से गमन कराते हैं। और मुमुक्षुओं को हृदय के ऊर्ध्व की शताधिक एक नाड़ी सुषुम्ना से ले जाते है ॥४४॥

दहरकुहरे देवस्तिष्ठन्निषद्वरदीर्घिका,
निपतित निजापत्यादित्सावतीर्णपितृ क्रमात्।
धमनिमिह नरस्तस्मिन् काले स एव शताधिका,
मकृतपुरं प्रस्थानार्थं प्रवेशयति प्रभुः ॥४५॥

अ०—परम पिता कीचड़ में गिरा हुआ पुत्र को उठाने के लिये इस

क्रम से हृदयाश में विराजमान होकर सर्व शक्तिमान वह प्रभु अपने प्रिय प्रपन्न को अन्तिम समय में अप्राकृत दिव्य लोक बैकुण्ठ पुर के लिये हृदयस्थ शतनाड़ी में से एक प्रधान नाड़ी सुषुम्ना में प्रवेश कराते हैं मुक्तिप्रद वही मार्ग है ॥४५॥

गतिचिन्तनाधिकार

ज्वलन दिवस ज्योत्स्ना पक्षोत्तरायण वत्सरान्,
पवन तपन प्रालेयांशून् क्रमादचिरद्युतिम्।
जलधरपति देवाधीशं प्रजापतिमागत,
स्तरति विरजां दूरेवाचस्ततः परमद्भुतम् ॥४६॥

अ०—बैकुण्ठ मार्ग के अतिवाहिक देवतागण क्रम से अर्चि दिवस शुक्ल पक्ष उत्तरायण और सम्वत्सर वायु सूर्य चन्द्रमा आगे चलकर विद्युद्देवता वरुण-इन्द्र तथा प्रजापति हैं। इन देवताओं से पूजित होकर वैकुण्ठयात्री मुक्त विरजा नदी से पार करता है। विरजा पार की बात वाणी का विषय नहीं है अति आश्चर्य्य मय उस दिव्य विभूति में पहुँचता है ॥४६॥

पितृपथ घटीयन्त्रारोहावरोह परिभ्रमै,
र्निरय पदवी यातायात क्रमैश्चनिरन्तरैः।
अधिगत परिश्रान्तीनाज्ञाधरै रतिवाह्य नः,
सुखयतिनिजच्छायादायी स्वयं हरि चन्दनः ॥४७॥

अ०—यह चेतन धूमयान मार्ग से चन्द्रलोक गमनागमन के क्लेश से अत्यन्त खिन्न हो गया है। और नाना प्रकार की नारकीय यातनाओं से अत्यन्त क्लान्त हम लोगों को अपने आज्ञा कारी अर्चिरादि आति वाहिक देव गणों द्वारा बुलाकर प्रभु ह्लादकारी अपने कर कमलों की छाया देकर सुखी बनाते हैं ॥४७॥

परिपूर्णब्रह्मानुभवाधिकार

वितमसिपदे लक्ष्मीकान्तं विचित्र विभूतिकं,
सचिव गमितस्स्वम्पद्याविर्भवत्सहजा कृतिः।
स्फुटतदपृथक् सिद्ध्यद् गुणाष्टक सत्फलो,
भजति परमं साम्यं भोगेनिवृत्ति कथोज्झिताः ॥४८॥

अ०—हृदयेश अन्तर्यामी से लाया हुआ यह प्रिय पुत्र जब परम प्रकाशमय दिव्य धाम में पहुँचता है। जहाँ दिव्यमणि मण्डप दिव्य भूषण आदि दिव्य सामग्रियों से सुशोभित श्री कान्त रमारमण विराजे हैं। उन्हें पाकर इसके ज्ञान आनन्द आदि गुणों का पूर्ण विकाश हो जाता है। और सत्यकाम सत्यसंकल्प आदि आठों गुणों से युक्त यह चेतन भगवान के साथ अपृथक् सिद्ध होकर स्वरूप प्राप्त आनन्द भोग और स्वामी का अनुभव कैंकर्य्य रूप परम भोग भोगता है। फिर कभी पृथक् न होकर उनकी परम साभ्यता प्राप्त कर लेता है ॥४८॥

अविश्रान्तश्रद्धा शत कलह कल्लोल विषमा,
ममाविर्भूयासुर्मनसि मुनिसिद्धादि सुलभाः।
मधुक्षीरन्याय स्वगुण विभवासञ्जनकन,
न्महानन्द ब्रह्मा नुभवपरिवाहा बहुविधाः ॥४९॥

अ०—जहाँ अनन्त नित्य मुक्त परिजन परिकर लोग बद्धकटि होकर कैंकर्य्य के लिये 'हम पहले हम पहले' कह कर आनन्दोल्लास से कोलाहल कर रहे हैं। और श्रद्धा प्रेम की बाढ़ में सेवा रस उमड़ रहा है उसका वर्णन और शेष शेषी के गुणों का मधु एवं क्षीर के विलगाव की तरह कौन कर सकता है ? उसके अनुभव प्रवाह से बढ़ता हुआ ब्रह्मानुभूति का वह महान् आनन्द हमारे मन में आविर्भाव हो। छत्र चामर व्यजन पादरोहण रूप स्वामी की दिव्य सेवा का सुख वाणी से बाहर है ॥४९॥

सिद्धोपायशोधनाधिकार

युगपदखिलं प्रत्यक्षेण स्वतः सततं विदन्,
निरवधिदया दिव्योदन्वानशक्य विवर्जितः।
जलधिसुतया सार्धं देवो जगत् परिपालयन्,
परमपुरुषः सिद्धोपायः प्रदिष्टभरः सताम् ॥५०॥

अ०—अखिल विश्व को एक ही समय में अनेक तरह से जानने वाले सर्व समर्थ निरवधिक दया सिन्धु और लक्ष्मी के साथ समस्त जगत्

का परिपालन करने वाले देव ! परम पुरुष परमात्मा ही प्रपन्नों के उज्जीवन का भार लेने वाले सिद्धोपाय कहे गये हैं ॥५०॥

विश्राम्यद्भिः रुपर्य्युपर्य्येपि दिवानक्तं वहिर्दर्शनै,
रस्मद्देशिक सम्प्रदायरहितै रद्यापि नालक्षितः।
स्व प्राप्तेः स्वयमेव साधनतया जोघुष्यमाणश्श्रुतौ,
सत्वस्थेषु भजेत् सन्निधिमसौ शान्तावधिश्शेवधिः ॥५१॥

अ०—रात दिन तर्कों पर जो सिद्धान्त बनता बिगड़ता रहता है और जिसका आधार केवल शुष्क तर्क ही है। हमारे नाथ यामुन यतिवर के सत्सम्प्रदाय से अपरिचित वे वेद वाह्य दार्शनिक आज तक भी श्रुति-स्मृतियों में घोषित सिद्धोपाय परमात्मा को नहीं समझ सके। देशकाल परिच्छेद से रहित आश्रितों के सर्वस्व भगवान् अपने परम सात्विकों के ही उपाय बनते हैं ॥५१॥

साध्योपायशोधनाधिकार

यथाधिकरणं प्रभुर्यजनदानहोमार्चना,
भरन्यसन भावना प्रभृतिभिःसमाराधितः।
फलं दिशति देहिनामितीहसम्प्रदायस्थितिः,
श्रुतिस्मृति गुरूक्तिभिर्नयवतीभिराभातिनः॥५२॥

अ०—सर्वेश्वर प्रभु चेतनों के कर्मानुरूप यज्ञ दान होम और पूजा अर्चना प्रपत्ति भक्तिरूप समाराधन से प्रसन्न होकर देहधारियों को फल प्रदान करते हैं। ऐसी पूर्वाचार्यों की मान्यता है, युक्ति संगत इस सिद्धान्त को श्रुतिस्मृति और आचार्यों के उपदेश से हम लोगों को बहुत प्रिय लगता है ॥५२॥

तत्तद्धैतुक हेतुके कृतधियस्तर्केन्द्रजाल क्रमेविभ्राणाः,
कथकप्रधान गणनेनिष्ठाकनिष्ठाश्रयां।
अध्यात्म श्रुति सम्प्रदाय कतकैरद्धाविशुद्धाशया,
स्सिद्धोपायवशीक्रियामितिहिनः साध्यां समध्यापयन् ॥५३॥

अ०—विभिन्न वादियों के असंगत तर्क यों होते हैं कि शास्त्र प्रमाण से गुरुतर मोक्षफल, कहीं हमारे लघुतर प्रपत्तिरूप साधन से प्राप्त हो

सकता है ? उन्हें शास्त्र प्रमाण सत्तर्क देकर अङ्गुलिओं पर गिने जाने वाले निष्ठावान् आचार्यों ने अध्यात्म और सम्प्रदाय के पूर्वाचार्यों के अनुष्ठान रूप कतक बीज से परिशुद्ध जल की तरह हृदय वाले हमारे आचार्यों ने भक्ति प्रपत्ति को साध्योपाय बताया है। सिद्धोपाय भगवान के वशीकरण के लिये साध्योपाय भक्ति प्रपत्ति की शिक्षा दी ।।५३।।

प्रभावव्यवस्थाधिकार

स्वरूपं यद्यादृग्गुणविभवलीलादि च विभो,
स्तदाज्ञा सेतुश्च श्रुतिभिरवसेयंतदखिलम् ।
तथा तद्भक्तानां तदुपसदनादेश्च महिमा,
यथाधीतं सद्भिर्यतिपति मुखैरध्यवसितः ।।५४।।

अ०—विभु परमात्मा का जैसा स्वरूप-गुण-लीला वैभव है और उसी तरह विधि निषेध रूप उनका सेतु वह सब उपनिषद् सत्छास्त्रों से जाना जा सकता है। वैसे ही उनके भक्त अनन्त गरुड़-विष्वक्सेन आदि नित्य सूरियों का और उस प्रभु की उपासना एवं उनके भक्तों की सबका सब शास्त्रों और शास्त्रज्ञ भागवतों से ही जाना जा सकता है। श्रीभाष्यकार आदि आचार्यचरणों ने जैसा बताया है वैसे ही उसको मानना चाहिये ।।५४।।

चातुर्वर्ण्यं चतुर्विधाश्रममुखे भेदे यथावस्थिते,
वृत्तं तन्नियतं गुणानुगुया वृत्याविशिष्टंश्रिताः ।
त्यागोपप्लवनित्य दूर शरण व्रज्या विधौ कोविदा,
श्चिन्ता मभ्युपगन्तुमन्तिम युगेऽप्येकान्तिनस्सन्तिनः ।।५५।।

अ०—चारों वर्ण आश्रम और देशकाल का भेद क्यों और किस तरह का है। यह सब शास्त्रों में अच्छी तरह बताया गया है। और भेदों में जो जो गुण प्रधान हैं उसके अनुरूप वृत्ति एवं कर्त्तव्य कर्म सब कहा गया है। इसलिये वह शास्त्रप्रतिपादित कर्मों के स्वरूप परित्याग में अनेक अनर्थ बताया गया है। केवल प्रपत्ति ही इस अपवाद से दूर है उस प्रपत्ति के मर्मज्ञ परमैकान्ति महानुभाव हमारे विचारों का समर्थन करने वाले आज भी वर्तमान हैं ।।५५।।

प्रभावरक्षाधिकार

शिलादेस्त्रीत्वादि विपरिणतिरस्त्वद्भुतमिदं'
ततो व्येतच्चित्र यदुतदहन स्यैवहिमता ।
तृणस्यैवास्त्रत्वं रिपुषु निहतेरेवहितता,
पदत्रेणैवेह त्रिभुवन परित्राणइति च ॥५६॥

अ० निर्जीव-पत्थर की चट्टान को चेतन स्त्री बना देना यह आश्चर्य्य है उससे भी बढ़कर आश्चर्य्य तो प्रचन्ड महाअग्नि को बर्फ की भांति हिम बना देना है। और एक तृण ब्रह्मास्त्र का काम करने लगा । शत्रु के विनाश में ही उसका मङ्गल बना देना और पादत्राण से त्रिभुवन का संरक्षण करा देना यह सब अत्यद्भुत आश्चर्य्य की सीमा उनका वैभव है ॥५६॥

रागद्वेष मदादिकैरिह महारक्षोभिरक्षोभिते,
नित्येरक्षितरि स्थितेनिज भरं न्यासाभिधानं तपः ।
यत्कक्षीकृत मत्यशेत विविधान् धर्मानधर्मद्रुह,
स्तद्भूमार्णवलेश वर्णनमपि प्राचांन वाचां पदम् ॥५७॥

अ०—रागद्वेष मद मोह राक्षसों से क्षुब्ध न होने वाले-सदा-सामने रहकर सर्व विधि रक्षक समर्थ प्रभु के समक्ष -साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठित भर-न्यास नाम वाला जो महान तप है शास्त्रों मे जिसकी अपार महिमा कहीं गई है वहीं समस्त धर्मों से वड़ाधर्म है उसकी महिमा का लेशमात्र भी वर्णन पुरातन वैदिकों की वाणी भी नहीं कर सकती ॥५७॥

मूलमन्त्राधिकार

तारं पूर्वं तदनु हृदयं तच्च नारायणाये,
त्याम्नायोक्तं पदमवयतां सार्थमाचार्य दत्तम् ।
अङ्गी कुर्वन्नलसमनसामात्मरक्षाभरन्नः,
क्षिप्रं देवः क्षिपतिनिखिलान किंकरैश्वर्य्य विघ्नान् ॥५८॥

अ०—आचार्य के द्वारा प्राप्त मूलमन्त्र में पहले संसार तारक प्रणव है वाद मे उसका हृदय नमः फिर वेदोक्त नारायणाय यह नाम है मन्द बुद्धि वाला भी यदि इसे अर्थ पूर्वक अनुसन्धान करें तो वह हमारे रक्षा भार को अङ्गीकार करने वाले स्वामी उसके सम्पूर्ण कैंकर्य्य के विघ्नों को शीघ्र ही दूर कर देते है ॥५८॥

इत्थं संघटितः पदैस्त्रिभिरसावेकद्विपञ्चाक्षरै,
रर्थैस्तत्वहितप्रयोजनमयैरध्यात्मसारैस्त्रिभिः।
आद्यत्र्यक्षरवेदसूतिरजहत् स्थूलादि वृत्तित्रयस्त्रै,
गुण्यप्रशम प्रयच्छति सतां त्रय्यन्त सारोमनुः ॥५६॥

अ०—एक दो पाँच अक्षरों से और तीन पदों से बना हुआ यह मूल मन्त्र तत्त्व हित पुरुषार्थ रूप आध्यात्म प्रयोजनों के अर्थों से भरा हुआ है। आदि अक्षर प्रणव तो वेद का सर्वस्व ही है। जिसको वेद का कारण कहते है। स्थूल-सूक्ष्म परा और योग रूढी एवं यौगिक रूढी वृत्तियों से सम्पूर्ण वेदार्थ को कहने वाला यह मूलमन्त्र आवृत्ति करने वाले सात्विकों के सृष्टि वर्धक त्रिगुण को विनाश करके भगवद्धाम दिलाता है ॥५६॥

द्वयाधिकार

आकर्णितो वितनुते कृतकृत्य कक्षा,
माम्रेडितो दिशति यश्च कृतार्थभावम्।
प्रत्यूषतां भजति संसृति काल रात्रेः,
पद्मासहाय शरणागति मन्त्र एषः ॥६०॥

अ०—अर्थ सहित अनुसन्धान करने पर जो द्वय मन्त्र कृतार्थ कर देता है। एक ही बार श्रीमन्नारायण भगवान का यह शरणागतिमन्त्र का उच्चारण करने से कृतकृत्य करके संसार काल रात्रि का अन्त प्रभात काल यह बताता है इसी से मन्त्ररत्न इसको कहा गया है ॥६०॥

न वेदान्ताच्छास्त्रं न मधुमथनात्तत्वमधिकं,
न तद्भक्तात्तीर्थं न तदभिमतात्सात्विक पदम्।
न सत्वादारोग्यं न बुधभजनाद्बोधजनकं,
न मुक्तेः सौख्यं न द्वय वचनतः क्षेम करणम् ॥६१॥

अ०—वेदान्त से बढकर दूसरा कोई शास्त्र नहीं है भगवान मधुसूदन से अन्य और कोई परमार्थ तत्त्व नहीं है और उनके भक्त से बढकर कोई पावन करने वाला अन्य तीर्थ नहीं है। भगवद्भागवताभिमत-स्थल से और कोई सात्विक पद नहीं है। शुद्ध सत्व से अन्य और कोई आरोग्य

पद नहीं कहा जाता भागवतों के अनुग्रह कटाक्ष से या उनके अनुवर्तन से बढकर अन्य कोई बोध का साधन नहीं है मुक्ति से अतिरिक्त सुख की सीमाभूमि और कोई नहीं हैं। द्वया॥नुसन्धान से अधिक क्षेम करने वाला और कोई मन्त्र नहीं है ॥६१॥

चरमश्लोकाधिकार

दुर्विज्ञानै नियम गहनैर्दूर विश्रान्तिदेशै,
बालानर्हैं बहुभिरयनैश्शोचतां नः सुपन्था।
निरप्रत्यूहं निज पदमसौ नेतुकामस्स्वभूम्ना,
सत्पाथेयंकिमपि विदधे सारथिः सर्वनेता॥६२॥

अ०—जिसे अच्छी तरह समझना बहुत कठिन है। और कठोर प्रयत्न से भी सब के सब नियम पालन न हो सके एवं विश्राम भी बहुत काल में मिल सकें ऐसे कर्म ज्ञान भक्ति आदि उपाय हैं। असमर्थ, स्त्री शूद्र आदि जिनको शास्त्र अधिकारी नही मानता ऐसे अनेक ब्रह्म विद्या रूप उपायों में शोचने वाले हम सब को विघ्नरहित सुन्दर मार्ग से अपने पद श्रीबैकुण्ठ धाम में ले चलने वाले समर्थ सब के स्वामी श्रीकृष्णचन्द अपने महान् प्रभाव से सात्विक अनन्य शरणों के लिये पाथेय रूप यह अपना चरमश्लोक रहस्य बताये॥६२॥

व्यासाम्नाय पयोधि कौस्तुभनिभं हृद्यं हरे रुत्तमं,
श्लोकं केचन लोकवेदपदवी विश्वासितार्थं बिदुः।
एषामुक्तिषु मुक्ति सौध विशिखा सोपान पङ्क्तीष्वमी,
वैशम्पायन शौनक प्रभृतयः श्रेष्ठाः शिरः कम्पिनः॥६३॥

अ०—वेद व्यास महाभारत क्षीर समुन्द्र से कौस्तुभ मणि की तरह यह चरम मन्त्र, प्रभु का शीघ्र फल देने वाला मनोहर श्लोक है। लौकिक और वैदिक दोनों प्रक्रिया से विश्वास दिला कर शरणागति बोधक यह अन्तिम मन्त्र और उसका अर्थ कोई महात्मा जानते हैं। ब्रह्म प्राप्ती का सोपान उनका नानाविध कैंकर्य्य हैं। इस तरह चरम श्लोक जानने वालों के विषय मे अत्यन्त ज्ञानाधिक वैशम्पायन शौनक भरद्वाज आदि महर्षी शिर हिला के स्वीकार करते हैं॥६३॥

आचार्यकृत्याधिकार

अधिजिगमिषुराद्यं धाम दिव्यं त्रिधाम्नः,
अत विविध परीक्षा शोधिते क्वापि पात्रे ।
अनघगुणदशायामाहित स्नेहमार्य्यैः,
प्रदिशति निरपायं सम्प्रदायप्रदीपम् ॥६४॥

अ०—त्रिधामा सर्वेश्वर भगवान के उस दिव्य धाम परम पद चलने वाले और सदाचार्य द्वारा अच्छी तरह परीक्षा किया हुआ किसी निर्दोष शिष्य को हीं स्नेह पूर्वक विशुद्ध संम्प्रदाय अर्थ को आचार्य देते हैं ॥६४॥

निरवधिदया दिव्योदन्वत्तरङ्ग निरङ्कुशैः,
नियमयतियशिशष्यान् शिक्षाक्रमै गुण संक्रमैः ।
अचरम गुरोराज्ञा पारम्परीपरवानसौ,
न पुनरिह तांस्तत्लक्ष्येणस्वयमप्यभि रक्षति ॥६५॥

अ० निःसीम दयार्णव भगवान के निरंकुश दिव्य गुणों के अनुसन्धान से आर्द्रचित्त आचार्य चरण अपने शिष्यों को भगवद्भागवत कैंकर्य्य में प्रवृत्त करते हैं। आदि गुरू भगवान के आज्ञानुसार रहने वाले और उनके परतन्त्र वर्तमान आचार्य लोग इस तरह से लीलाविभूति में शिष्यों की ही रक्षा नहीं करते किन्तु इसके ब्याज से अपनी भी रक्षा करते हैं। आचार्य कृत्य ही यही है कि शिष्य को सन्मार्ग में शासित करें। कर्त्तव्य पालन रूप यह कैंकर्य्य हे ॥६५॥

शिष्यकृत्याधिकार

अशिथिलित गुरुभक्तिस्तत्प्रशंसादि शीलः,
प्रचुर वहु मतिस्तद्वस्तु वास्त्वादिकेपि ।
गुणवति विनियोक्तुं गोपयन् सम्प्रदायं,
कृतविदनघवृत्तिः किन्नविन्देनिधानम् ॥६६॥

अ०—गुरू में अपार भक्ति रखकर उनके आत्मगुणों की प्रशंसा करना और उनको अभिमत वस्तु असन वसन आभरण आदि इसी तरह वास्तु स्थल जहाँ रहे हों आलय-आश्रम कुटीरों में अत्यन्त आदर बहुमान करते रहना। और आचार्य से प्राप्त सदर्थो को गुणवान् शिष्यों में उसकी

रक्षा अभिवृद्धि के लिये रखना यही कृतज्ञ निर्दोष प्रपन्न शिष्यों का लक्षण है। ऐसा सुयोग्य शिष्य फिर कौन सा ऐश्वर्य्य नहीं प्राप्त कर सकता ॥६६॥

अध्यासीन तुरङ्ग वक्रविलसज्जिह्वाग्र सिंहासना,
दाचार्यादिह देवतां समधिकामन्यां न मन्यामहे।
यस्यासौभजते कदाचिदजहत् भूमा स्वयं भूमिकां,
मग्नानां भविनां भवार्णव समुत्ताराय नारायणः ॥६७॥

अ०—श्री हयग्रीव भगवान जिह्वा सिंहासन पर नित्य विराजे है ऐसे आचार्य देवता के बराबर अथवा इनसे अधिक और कोई देवता हम नहीं मानते। अपने पूर्ण वैभव के साथ श्रीमान् नारायण ही सांसारिक जीवों के उद्धार के लिये आचार्य का वेष धारण करते हैं ॥६७॥

निगमनाधिकार

करवदरितविश्वः कश्चिदार्यदृष्ट्या,
मुषितनिखिलमोहो मूलमन्त्रादि भोगः।
सगुण विषयसिद्धौ सम्प्रदायं प्रयच्छन्,
सुचरित शिलहारी सूरि वृन्दाभि वन्द्यः ॥६८॥

अ०—आचार्य कटाक्ष से मोह दूर हो गया विश्व की सारी वस्तुयें हाथों में अंबला की भाँति दीख रही है। और मूल द्वय चरम मन्त्रार्थ भोग्य हो गया है। इसी तरह समस्त आत्मगुणों से युक्त शिष्यों में सम्प्रदायार्थ को बताने वाले और स्वरूपानुरूप दिन चर्य्या जिसकी हो तो दिव्य सूरि लोग भी उसकी प्रशंसा करते हैं ॥६८॥

निर्विष्टं यति सार्व भौम वचसा मावृत्तिभि र्यौवनं
निर्धूतेतर पारतन्त्र्य निरयानीताः सुखं वासराः।
अङ्गीकृत्यसतां प्रसत्तिमसतां गर्वेऽपिनिर्वापितः,
शेषायुष्यपि शेषि दम्पति दया दीक्षामुदीक्षामहे ॥६९॥

अ०—आचार्य सार्वभौम वेदान्त देशिक स्वामी जी कहते हैं कि हमारे श्री भाष्यकार भगवद्रामानुजाचार्य की दिव्य वाणी श्रीभाष्यादि दिव्य ग्रन्थों के स्वाध्याय आवृत्ति में यह यौवन अवस्था बीती है। उनसे अन्य लोगों की परतन्त्रता रूपी नरक का कभी भी अनुसरण नहीं किया।

और परम सात्विकों के साथ सुख पूर्वक दिवस बीता। सत्वोत्तर महाभागवत नाथयामुनयतिवर आदि के कृपा कटाक्ष के पात्र बनकर शिर से इनकी आज्ञाओं का परिपालन किया। और वेदवाह्य एवं वेदविरुद्धार्थ वालों के गर्वों को दूर किया। अब शेष आयु भी श्री निवास भगवान दिव्य दम्पत्ती की दीक्षा व्रत की प्रतीक्षा करता हूँ ॥६९॥

ग्रंथाधिकारी

स्तोतुँ निन्दतुमस्मदुक्तिमथवा सोढुं समुढं जगत्,
किन्नश्छिन्न मनन्तचिन्तनरसेसुस्थेपरे तस्थुषाम्।
शिष्याः शिक्षित वुद्धय श्रुतिपथे येषोवयं ये च न,
स्तत्सन्तोष समर्पणे क्षममिदं साऽम्बरै किंपरैः ॥७०॥

अ०—जगत् में इस हमारी उक्ति की कोई प्रशंसा करें अथवा निन्दा करें या उपेक्षा असमर्थ समझे। किन्तु अडिग भगवान के चिन्तन रस में निमग्न रहते हुये हमारा क्या बिगड़ता है। वेद सच्छास्त्र मार्ग से चलने वाले हमारेआचार्य और परवर्ति हमारे शिष्य आदि को यदि यह कृति सन्तोष दे सकी तो और आडम्बर वालों से हमें क्या लेना है ॥७०॥

आस्तिक्यवान्निशित बुद्धि रनभ्यसूयु,
स्सत्सम्प्रदायपरिशुद्ध मनास्सदर्थः।
संकेतभीतिरहितस्स तृणेष्व सक्त,
स्सद्वर्त्तनी मनु विधास्यति शाश्वतींनः ॥७१॥

अ०—शास्त्र विश्वासी आस्तिक और सुने हुये अर्थों को धारण करके गुण को दोष की भवना से न देखने वाला और वैदिक सम्प्रदाय में परिशुद्ध मन से श्रद्धावान् जन और सत्पुरुषों से विशेषार्थ जानने की इच्छा रखने वाला एवं संकेत भय से दूर रह कर निः सारग्रन्थों में आस्था छोड़ने वाला जो पुरुष होगा वह हमारे बताये हुये मार्ग का सदा अनुवर्तन करेगा। **रहस्यमय सारोऽयं वेङ्कटेश विपश्चित्ता-शरण्य दम्पतिविदां सम्मतः समुदाहृतः।**

इति श्रीवेदान्तचार्य कृतिषु अधिकार संग्रह समाप्त।
और उसकी हिन्दी टीका समाप्त हुई।

श्री मतेरामानुजाय नमः ।

श्रीवेदान्त देशिक विरचित न्यास विंशतिः

श्रीमान्वेङ्कटनाथार्यः कवितार्किक केशरी ।
वेदान्ताचार्य वर्य्यों मे सन्निधत्तांसदाहृदि ।।

अ०—कवि और तार्किकों में सिंह श्रेष्ठ वेदान्ताचार्य श्रीमान् वेङ्कटनाथ स्वामी हमारे हृदय में विराजें ।

सिद्धं सत्सम्प्रदाये स्थिरधियमनघंश्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं,
सत्त्वस्थं सत्यवाचं समयनियतया साधुवृत्त्यासमेतम् ।
दम्भासूयादिमुक्तं जितविषयगणं दीर्घबन्धुं दयालुं,
स्खालित्ये शासितारं स्वपरहितपरं देशिकं भूष्णुरीप्सेत् ।। १ ।।

अ०—प्रपन्नों को सदाचार्य वरण करना है, आचार्य निष्ठा प्रपत्ति ही श्रेष्ठ है । इसलिये सदाचार्यका लक्षण इस श्लोक से आचार्यचरण बतलाते हैं । श्री नाथ-यामुन यतिवर सत्वोत्तरों की परम्परा को सत्सम्प्रदाय कहते हैं । उसमें सम्बन्धित हो । या सत्कुल में जन्म लेकर गुरु शिष्य परम्परानुगत अर्थों का ज्ञाता हो । भ्रम सन्देह रहित जानने योग्य अर्थों का ज्ञान होना यही ज्ञान की स्थिरता है । पाप रहित हो, वेदान्तार्थ को श्रवण किया हो और ब्रह्मनिष्ठ-साध्यसाधन के तत्त्व को भलीभांति जानता और मानता हो । सतोगुण वृत्ति को सत्यवादी एवं समय का शास्त्रानुसार उपयोग करने वाला हो । सात्विक सदाचारों से युक्त हो । दम्भ, अर्थ प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि के लिये धर्माचरण न करने वाला हो । गुण में भी दोष भावना बनाके देखने वाला नहीं होना चाहिये । और काम क्रोध लोभ मोह मद मात्सर्य्य से दूर रहने वाला हो । ज्ञान कर्मेन्द्रियों सहित मनोविजयी हो । और ख्याति सहवास सेवा के लिये शिष्य संग्रह न करके उसके ऊपर दया कर आत्मोज्जीवन की भावना से दीर्घबन्धुता करने वाला हो । और निर्हेतु दया से ढरने वाला विषय

आदि की प्रवृत्ति में शिष्य को रोकता हो अपना और शिष्य का हित परमहित मोक्ष पर ध्यान रखता हो। बढ़ने वाले शिष्य को ऐसे लक्षण वाले आचार्य की इच्छा रखनी चाहिये ॥१॥

अज्ञानध्वान्तरोधादघपरिहरणादात्म साम्यावहत्वाज्ज,
न्मप्रध्वंसिजन्मप्रद गरिमतयादिव्यदृष्टि प्रभावात्।
निष्प्रत्यूहानृशंस्यान्नियतरसतयानित्यशेषित्व योगादा,
चार्यस्सद्भिरप्रत्युपकरणधिया देववत्स्यादुपास्यः ॥२॥

अ०—आचार्य और भगवान् में कई अंशों में समता है फिर भी आचार्य भगवान् से सुलभ अधिक गुणवान होते हैं। अज्ञान अन्धकार रोकने में आचार्य और भगवान समान हैं। अज्ञान नाशक जैसे भगवान् है गुरु शब्द का भी यही अर्थ है। हरिर्हरिः कहने से पाप क्षय होता है वैसे गुरुर्गुरु के भजन से भी पाप नाश कहा गया है। आत्मसाम्य दोनों ही देते हैं परम साम्य जैसे भगवान् देते हैं आचार्य भी भगवद्विषय ज्ञान उत्पन्न कराके उनके साम्य बना देते हैं। जन्म नाश करने वाला एक जन्म और दूसरा देने से भगवान् गुरु से विलम्ब मुक्तिप्रद हैं। गुरु उसी शरीर से ज्ञान जन्म देकर प्रभु से शीघ्र ही मोक्षद बन जाते हैं। ईश्वर की दया से दिव्य दृष्टी मिलती है जिससे वह शरणागत होता है। आचार्य भी बालमूक अन्धबधिरों को दिव्य दृष्टि अपने अनुग्रह से देते हैं। जैसे भगवान की दया कृपा समस्त विघ्नबाधाओं से रहित होती है वैसे ही आचार्य का भी स्वयं प्रयोजन अपनी दया परवश होकर शिष्यानुग्रह करते हैं। नित्य रसस्वरूप भगवान की तरह आचार्य भी प्राप्यभोग्य हैं। यामुनाचार्य ने माता पिता कहा है। और "इह परत्र चापि" नित्य शेषी कहा हैं। इसलिये आचार्य का प्रत्युपकार कोई कर ही नहीं सकता देव की भांति आचार्य की उपासना करनी चाहिये ॥२॥

सद्बुद्धिस्साधुसेवी समुचित चरितस्तत्त्व बोधाभिलाषी,
शुश्रूषुस्त्यक्तमानः प्रणिपतनपरः प्रश्नकालप्रतीक्षः।
शान्तो दान्तोऽनसूयुश्शरणमुपगतश्शास्त्रविश्वासशाली,
शिष्यः प्राप्तः परीक्षां कृत विदभिमतं तत्त्वतः शिक्षणीयः ॥३॥

अ०—अच्छी तरह से ज्ञानवान् भागवतों में आचार्य की तरह से भावना वाला साधु सेवी और सदाचार परायण स्वरूप साधन पुरुषार्थ विषयों के ज्ञान की इच्छा रखने वाला हो। सदा ही समिध पुष्प जल लेकर आचार्य की सन्निधि में अभिमान शून्य होकर अनुसरण करने वाला हो। प्रणामादि विनयों से विनीत और हमेशा प्रश्न काल की प्रतीक्षा करने वाला प्रशान्त मन, जितेन्द्रिय निन्दारहित और आचार्य की सन्निधि में पहुँचें। वेद सच्छास्त्र गुरु बचनों पर अत्यन्त विश्वासयुक्त शिष्य की वर्ष छ मास या तीन मास की परीक्षा से उसके शील का परिचय करके कृतज्ञ और अभिमत शिष्य को आचार्य तत्त्वज्ञान की शिक्षा दें ॥३॥

स्वाधीनाशेष सत्ता स्थितियतनफलं विद्धि लक्ष्मीशमेकं,
प्राप्यं नान्यं प्रतीया न च शरणतया कश्चिदन्यं वृणीथाः।
एतस्मादेवपुंसा भयमितरदपिप्रेक्ष्य मोक्ष्यस्तदाज्ञामित्ये,
कान्तोंपदेशः प्रथममिहगुरोरेकचित्त नधार्यः ॥४॥

अ०—समस्त चेतन अचेतनों की पूरी-पूरी सत्ता स्थिति और प्रयत्न फलों के दाता श्रीलक्ष्मी नारायण भगवान हैं। अपने परम प्राप्य वे ही है उपाय शरण भी और कोई दूसरा नहीं है। उसी परमात्मा की आज्ञाओं के उल्लङ्घन से प्राणियों को भय उत्पन्न हुआ है। अर्थात् जन्म मरण की भयंकर परम्परा में जा रहा है यह जीव चेतन; अब अभय-मोक्ष देखकर भगवान की आज्ञा श्रुतिस्मृति का कभी परित्याग नहीं करता। यह अर्थ शिष्य को चाहिये कि सबसे पहले गुरु की सन्निधि में एक चित्त से श्रवण करले ॥४॥

मोक्षोपायार्हतैवंभवति भवभृतां कस्यचित् क्वापि काले,
तद्भक्तिप्रपत्त्योरधिकृति नियमस्तादृशास्यान्नियत्या।
शक्ताशक्तादितत्तत्पुरुषविषयतस्स्थाप्यते तद्व्यवस्था,
यच्चाहुस्तद्विकल्पस्सम इति कतिचित्तत् फलस्याविशेषात् ॥५॥

अ०—अनेक जन्म परम्परा में प्राणियों को भटकते-भटकते किसी को कैसे मोक्ष की इच्छा होती है यह निरूपण करना बड़ा कठिन है। जब कारण का निर्णय नहीं हो सकता तो काल समय का भी निर्णय कठिन ही है रहा यह कि प्रपत्ति एक बार और भक्ति बारम्बार जीवन पर्य्यन्त, दोनों समान साधन तो हैं नहीं, फिर इनमें विकल्प कैसे बनेगा! समर्थ और असमर्थ मोक्ष बिलम्ब एवं शीघ्र इन भेदों को लेकर अधिकारी भेद से व्यवस्था बनती है। मोक्ष रूप फल दोनों का समान है इसलिये ही बराबरी का साधन कहा जाता है ॥५॥

सानुक्रोशे समर्थे प्रपदनमृषिभिः स्मर्यतेऽभीष्टसिद्ध्यै,
लोकेऽप्येतत्प्रसिद्धं न च विमतिरिह प्रेक्ष्यते क्वापि तन्त्रे।
तस्मात्कैमुत्यसिद्धं भगवति तु भरन्यास विद्यानुभावं धर्म-,
स्थेयाश्च पूर्वेस्वकृतिषु वहुधास्थापयाञ्चक्रुरेवम् ॥६।

अ०—समर्थ और कारुणीक में की गई शरणागति ही मनोरथ की पूर्ति करती है ऐसा व्यास बाल्मीक महर्षियों ने अपने अपने ग्रन्थों में बताया है। और दूसरे शास्त्रों से भी ऐसा ही समर्थन मिलता है। जब अल्प शक्ति वाले रक्षा की व्यवस्था करते है तो समर्थ भगवान के यहाँ इसका पालन क्यों न हो! भरन्यास विद्या का प्रभाव जानने वाले पूर्वाचार्य यामुन यतिवर अपने अपने ग्रन्थों में अच्छी तरह से इसे स्थापित किया है ॥६॥

शास्त्र प्रामाण्यवेदी न विधि विषये निर्विशंकोऽधिकारी,
विश्वासस्याङ्गभावे पुनरिहविदुषा किं महत्वंप्रसाध्यं।
मैवं घोरापराधैस्सपदि गुरुफले न्यासमात्रेणलभ्ये शंका,
पार्ष्णिप्रहार्हा शमयितुमुचिता हेतुभिस्तत्त्वदर्हैः ॥

अ०—शास्त्राज्ञा का अधिकारी विश्वासी ही व्यक्ति होता है प्रपत्ति में भी शास्त्र विधि के नाते विश्वास है, प्रपत्ति में फिर महा विश्वास की क्या आवश्यकता है! ऐसी आशंका का समाधान है कि जन्म जन्मान्तर के मेरे घोर और प्रबल पापों का नाश करके इसी शरीर के बाद बड़े-बड़े

ऋषि मुनियों के लिये भी दुर्लभ पद मोक्ष परमधाम इतने छोटे उपाय से कैसे प्राप्त हो सकता है ! ऐसी शंकायें पैर पकड़ती हैं । उसे भगवान के प्रभाव गुण माहात्म्य से और इस उपाय की श्रेष्ठता से समाधान किया जा सकता है ॥७॥

नेहाभिक्रान्ति नाशो न च विमतिरिह प्रत्यवायो भवेदि,
त्युक्तं कैमुत्य नीत्याप्रपदन विषये योजित शास्त्रविद्भिः ।
तस्मात्त्क्षेत्रे तदर्हेसुविदित समयैर्देशिकैः सम्यगुप्तं,
मन्त्राख्यं मुक्ति बीजं परिणति वशतः कल्पतेसत्फलाय ॥८॥

अ०—निष्काम कर्म योग में कहा है यहाँ अभिक्रम आरम्भ का नाश नहीं होता वही न्याय प्रपत्ति के विषय में शास्त्रकारों ने लगाया हैं जब निष्काम कर्मयोग की यह योग्यता है तो ज्ञान के शिरो भाग प्रपत्ति में क्या कहना है ! इसलिये सुयोग्य मुमुक्षु पात्र में सदाचार्य द्वारा बोया हुआ यह मन्त्र रूप मुक्ति बीज समय पर अवश्य अपना सुन्दर फल देगा ॥८॥

न्यासः प्रोक्तोऽतिरिक्तं तप इति कथितः स्वध्वर श्चास्यकर्त्ता
ऽहिर्बुध्न्योप्यन्ववादिदगणि दिविषदामुत्तमं गुह्यमेतत् ।
साक्षात् मोक्षाय चासौश्रुतइहतुमुधाबाधशंका गुणाढ्य,
तन्निष्ठो ह्यन्यनिष्ठान् प्रभुरति शयितुं कोटि कोट्यशतोऽपि ॥९॥

अर्थ—यह न्यास भरन्यास एक भिन्न ही तप कहा गया है । और आत्मयाजी स्वध्वर भी अहिर्बुध्न्य संहिताकार शंकर ने कहा है । देवताओं के लिये भी अत्यन्त गोपनीय है यह प्रपत्ति । वेदोक्त इस न्यास की महामहिमा है ऐसे गुणवान प्रपदन में बाधा की शंकाव्यर्थ है । जो मोक्ष के लिये सीधा इसी का अवलम्बन लेते है वे और अन्य उपायों से कोटि-कोटि गुणा अधिक समर्थ कहे जाते हैं । शास्त्रों मे बहुत प्रमाण भरन्यास की श्रेष्ठता का मिलता है ॥९॥

नाना शब्दादि भेदादितितु कथयता सूत्रकारेण सम्यक्,
न्यासोपासे विभक्ते यजन हवनवच्छब्दभेदादभाक्तात् ।

आख्यारुपादि भेदःश्रुतइतर समः किञ्चभिन्नोधिकार,
शीघ्रप्राप्त्यादिभिस्याज्जगुंरिति च मधूपासना दौव्यवस्थाम् ।।१०

अ०—ब्रह्मसूत्रकार ने नानाशद्वादि भेदात्'' इस सूत्र से न्यास और उपासना को भिन्न-भिन्न बताया। मींमासकों ने मुख्य रुप से यजन हवन दान मे जैसे भेद माना है वैसे ही नाम भक्ति प्रपत्ति, और रूप सर्वज्ञ सर्वशक्ति,' एवं स्वतन्त्र निरपेक्ष रक्षक आदि गुण भेदों से और ब्रह्म विद्याओं की तरह अधिकार भेद से भक्ति प्रपत्ति मे भी भेद है, भक्ति मे शक्तिमान् और प्रपत्ति मे अंकिचन का अधिकार कहा गया है। और भक्ति प्रारब्ध क्षय के वाद प्रपत्ति मे वर्तमान देहपात ही की देर है इसलिये भक्ति से प्रपत्ति मे शीघ्रता है। जैसे मधु विद्या मे वसुपद प्राप्ति पूर्वक ब्रह्मप्राप्ति है उसी तरह प्रपत्ति में शीघ्रता रूप यह फल विशेष है।।।१०।।

यत्किंचिद्रक्षणीयं तदवने निपुणे न्यस्यतोऽकिंचनस्य,
प्रस्पष्टंलोक दृष्ट्या प्यवगमितइह प्रार्थनाद्यङ्गयोगः।
तस्मात्कर्माङ्गकत्व व्यपनयति परापेक्षणाभाववाद,
साङ्गत्वष्टाङ्गयोगव्यवहृतिनियत ष्षडविधत्वोपचारः॥११॥

अर्थ—जो भी कुछ आत्मा और आत्मीय रक्षा के योग्य हो उसकी रक्षा मे असमर्थ, अकिंच्चन पुरुष किसी समर्थरक्षक से रक्षा करायेगा। यह लोक व्यवहार से भी देखा जाता है कि प्रार्थना करके उसकी रक्षा करता है प्रपत्ति को किसी अन्य की अपेक्षा नही तो वह षडङ्ग, पच्चाङ्ग, क्यों कही जाती है ? परापेक्षा के अभाव का अर्थ है कि उसे दूसरे कर्मों की आवश्यकता नही, उसके अपने ही अङ्ग पंचाङ्ग षडङ्ग कहा जाता है जैसे योग ही अपने अंगों को लेकर अष्टाङ्गयोग कहा जाता है।।११।।

पंचाप्यङ्गान्यभिज्ञाः प्रणिजगुरविनाभाव भाञ्जिप्रपत्तेः
कश्चित्सम्भावितत्वं यदहनियादिदं तत्प्रपत्त्युत्तरं स्यात्।

अङ्गेष्वङ्गित्ववादः फलकथनमिह द्वि त्रिमात्रोक्तयश्च
प्राशस्त्यं तत्रतत्रप्रणिदधति ततस्सर्वबाक्यैक कण्ठ्यम् ॥१२॥

अर्थ—प्रपत्ति जो पञ्चाङ्ग कही जाती है वह अपने पाँचो अंगों को मिलकर ही उसमे से एक भी हटाया नहीं जा सकता। यदि कोई आनुकूल्यादि को सम्भावना रूप से मानें अर्थात् कोई निश्चित नहीं है अतः उसे प्रपत्ति का अङ्ग नहीं कहा जा सकता ? तो यह वात प्रपत्ति के उत्तर काल की है। कहीं-कहीं काक कपोत मे एक दो तीन ही अङ्ग दीखे जाते हैं और उसे प्रपत्ति कही गई तो उसमे मुख्य मोक्ष फल कहने के लिये अङ्ग मे अङ्गी की प्रशंसा की गई है। सब वाक्यों की एक वाक्यता इसी तरह से की जाती है ॥१२॥

रक्षापेक्षा स्वसाध्यप्रणयवति भरन्यास आज्ञादि दृष्टे,
दृष्टानात्र प्रपत्ति व्यवहृतिरिह तन्मेलने लक्षणंस्यात्।
गेहा गत्यादि मात्रे निपततु शरणागत्य भिख्योपचारा,
द्वद्वा नैकार्थभावाद्भवतिहिविविधः पालनीयत्वहेतुः ॥१३॥

अर्थ—परमात्मा के रक्षण मे चेतन की प्रार्थना भी अपेक्षित है, इसलिये प्रपत्ति-भरन्यास मे दोनों का समान सम्बन्ध आता है प्रपत्ति शब्दएक को ही प्रधानता कैसे देगा ? आज्ञा पालन से अनुग्रह उपेक्षा से शिक्षा देने वाले लोक मे अलग-अलग देखे जाते हैं ? यहाँ ऐसा नहीं है प्रपत्ति के व्यवहार में यह लक्षण नही मिलता-रक्षा की अपेक्षा पूर्वक रक्षण को भरन्यास करते है यदि काक कपोत मे यह लक्षण घटता हो तो शरण शब्द का दूसरा अर्थ गृह मे आया हुआ" यह माना जाय। इसमे भी पालन सिद्ध ही हो जाता है ॥१३॥

आत्मात्मीयस्वरूप न्यसन मनुगतं यावदर्थं मुमुक्षो,
स्तत्त्व ज्ञानात्मकं तत्प्रथममथ विधेस्यादुपाये समेतम्।
कैङ्कर्यार्थंपुमर्थे प्यनुषजतितदभ्यर्थना हेतुभावात्स्वा,
भीष्टानन्यसाध्यावधिरिहतु भरन्यास भागोऽङ्गीभूतः ॥१४॥

अ०—अधिकारी जन-उपाय-साधन-फल और भरन्यास के सही

अर्थ का अनुसन्धान करते हैं। मुमुक्षु के लिये यही तत्वज्ञान है। भक्ति प्रपत्ति मे इसका सम्बन्ध है भक्ति उपासना मे तो शेषत्व ज्ञान की अनुवृति मानी जाती है और प्रपत्ति मे शेषत्वज्ञान पूर्वक ही कैंकर्यं मे रुचि होती है स्वतः सिद्ध जो पुरुषार्थ कैंकर्य्य कहा जाता है। विना शेषत्व ज्ञान के उसमे प्रवृति ही नहीं होती कैंकर्य्य की प्रार्थना होती है। ऐसे ही भरन्यास मे भी प्रधानअभीष्ट की सिद्धि का प्रभु बिना और कोई रास्ता ही नहीं हैं अतः भरन्यास स्वतः आ जाता है ॥१४॥

न्यासादेशेषु धर्मत्यजन वचनतोऽकिंचनाधिक्रियोक्ता,
कार्पण्यंवाङ्गमुक्त भजनवदितरापेक्षणं वाप्यपोढम्।
दुस्साधेच्छोघमौ वा क्वचिदुपशमितावन्य सम्मेलनेवा,
ब्रह्मास्त्र न्यायउक्तस्तदिह नविदितो धर्म आज्ञादि सिद्धः ॥१५॥

अ०—शरणागति बताने बाले वक्यों मे जहाँ धर्मत्याग की बात दीखती है सर्वधर्मान" स्थलों मे उसका यह तात्पर्य है कि अशक्त कृपण अकिंचधन अधिकारी शरणागति कर सकता है। भक्ति की तरह इसमे कर्म ज्ञान आदि अङ्गों की आवश्यकता नहीं है। और दुःसाध्य जो इच्छा एवं उद्यम (भक्ति) को व्यर्थ बताकर रोंकना हैं। और प्रपत्ति का अङ्ग अनुकूल संकल्प आदि को छोड़कर और कोई भी कर्म मिलाने से ब्रह्मास्त्र की तरह विफल हो जायेगी। इसलिये धर्मत्याग बचन से अधिकारी का स्वरूप बताया जा रहा है। आज्ञानुज्ञा से विहित धर्म का त्याग कहीं नहीं बताया गया है ॥१५॥

आदेष्टुं स्वप्रपतिं तदनुगुणगुणा द्यन्वितस्वं मुकुन्दो मामि,
त्युक्त्वैक शब्दं वदति तदुचितं तत्रतात्पर्यमूह्यम्।
तत्प्राप्यप्रापकैक्यं सकल फल दत्वां न्यासतो न्यानपेक्षां,
प्राधानाद्यं च किञ्चित्प्रथयतिस परंश्री सखेमुक्त्युपाये ॥१६॥

अ०—गीता में भगवान माँ मेकं शद्ध" कहते हैं प्रपत्तव्य भगवान का स्वतन्त्र निरपेक्ष रक्षकत्व और कारूण्यादि गुण समूहों से युक्त मैं अकेला ही" प्रपन्न की रक्षा करूँगा यह एक शब्द शरणागत को

सम्पूर्ण फल देने वाला प्राप्य प्रापक की एकता को बताता है। किसी और की सहायता नही चाहिये। श्रीपति ही प्रधान सर्व श्रेष्ठ मुक्ति मे उपाय है।यही एक शब्द का तात्पर्य है ॥१६॥

स्वाभीष्ट प्राप्ति हेतुः स्वयमिह पुरुषैः स्वीकृतस्यादुपायः,
शास्त्रे लोके च सिद्ध स्सपुनरुभयथा सिद्धसाध्यप्रभेदात्।
सिद्धोपायस्तु मुक्तौ निरवधिकदयः श्री सखस्सर्वशक्ति,
स्साध्योपायस्तु भक्तिन्यसनमिति पृथक तद्वशीकारसिद्धचैः ॥१७

अ०—अपने अभीष्ट मनोरथ सिद्धि का साधन, स्वयं सिद्ध भगवान को शास्त्रों में सिद्धोपाय कहागया है। साधन भी सिद्ध और साध्य भेद से दो प्रकार का होता है। निःसीम दयार्णव सर्व शक्तिमान भगवान तो मुक्तिदान मे सिद्धोपाय है और भक्ति प्रपत्ति दोनों सिद्धोपाय भगवान के वशीकार के लिये साध्योपाय है ॥१७॥

अत्यन्ताकिञ्चनो ह त्वदपचरणात स्सन्निवृत्तो ह्यनाथ,
त्वत्सेवैकान्तधीस्यां त्वमसि शरणमित्यध्यवस्यामि गाढम्।
त्व मे गोपायितास्यास्त्वयि निहित भरो स्मेवमित्यर्पितात्मा
यस्मैसन्यस्तभारस्सकृदिति तु सदानप्रपस्ये त्तदर्थम ॥१८॥

अर्थ—इस श्लोक से आचार्य अङ्ग पञ्चक प्रपत्ति को उदाहरण पूर्वक दिखलाते हैं। हे स्वामी मैं अत्यन्त अकिञ्चन हूँ, और तुमारे अपचार से निवृत्त हो गया प्रतिकूलता का त्याग कर दिया और तुमारी सेवा ही मुख्यलक्ष बनाया हूँ अनुकूल संकल्प। तुमी हमारे शरण हो इससे महाविश्वास, और तुम्ही मेरे रक्षक हो इससे गोपृत्व वरण-तथा तुमारे ऊपर हमारे उज्जीवन का साराभार है इससे प्रपत्ति एक ही वार जब तक फल न मिले फिर उसके लिये अब प्रयत्न नहीं करुँगा ॥१८॥

त्यक्तोपायानपाया नपि पर मजहन् मध्यमां स्वाहवृत्तिं,
प्रायश्चित्तं चयोग्यंविगतऋण तत्ति द्वन्द्व वात्यां तितिक्षु।
भक्ति ज्ञानादि वृद्धिं परिचरण गुणान्सत्समृद्धिंश्च युक्त्या
नित्यं याचेदनन्यःस्तदपि भगवतस्तस्य यद्वाप्त वर्गात् ॥१९॥

अ०—प्रपन्न सदा सावधानी से प्रपत्ति से भिन्न मोक्ष के उपायों का त्याग करें। ऐसे ही निषिद्ध कर्मों का भी। उपाय और अपाय दोनों का त्याग कर मध्यम वृत्ति में रहे निषिद्ध कर्मों को स्वरूप से त्यागें और नित्य नैमित्तिक विधियों को कैंकर्य बुद्धि से करें। भूल से कोई अकृत्य हो तो क्षमा होगी। बुद्धि पूर्वक का शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त अथवा प्रायश्चित प्रपत्ति करके शुद्ध हो जाय। ऋणत्रय प्रपत्ति से ही दूर हो जाता है वर्णाश्रम धर्म कैंकर्य्य के अन्तर्गत हो जाता है। और सुख दुखादि जो द्वन्द्व इनको शरीर तक सहना हैं। प्रार्थनीय वस्तु है भक्ति ज्ञान वैराग्य और आत्मगुण एवं कैंकर्य्य की सामग्री अन्न धन आदि और भागवतों की समृद्धि महाभागवतों की वृद्धि। और न्यायोचित सत्समृद्धि की यह प्रार्थना भी भगवान् से या भागवतोत्तम अनन्त विष्वक्सेन आदि भगवत्पार्षदों ही करे देवतान्तर और देवतान्तर के भक्तों से भी नहीं। क्योंकि निष्ठानष्ट हो जाती है। अनन्यता भंग होने से भगवान एवं भागवत प्रसन्न नहीं होते ॥१९॥

आज्ञाकैंकर्य्य वृत्तिष्वनघ गुरुजन प्रक्रियानेमि वृत्तिः,
स्वार्हानुज्ञात सेवा विधिषु च शकनेयावदिष्टं प्रवृत्तः।
कर्मप्रारब्धकार्यं प्रपदनमहिमध्वस्त शेषंद्विरुपं,
भुक्त्वास्वाभीष्ट काले विशति भगवतः पादमूलं प्रपन्नः ॥२०॥

अ०—प्रपन्न को दो तरह का कैंकर्य्य करना है आज्ञा कैंकर्य सन्ध्या वन्दन देव ऋषीपितृ नित्य नैमित्तिक वर्णाश्रम धर्म प्राप्त सब आज्ञा कैंकर्य कहा जाता है। अनुज्ञाकैंकर्य उद्यान वापी आराम आलय निर्माण पुष्प चन्दन समिध संग्रह आदि आज्ञा पालन के बाद का अनुज्ञा के अन्तर्गत कहा जा सकता है। अपनी योग्यता और अधिकार के अनुसार जितना इष्ट हैं करते रहना। प्रपत्ति की महिमा से नष्ट हुये प्रारब्ध का शेष कर्म पुण्य पाप रूप को भोगकर देहावसान में प्रपन्न भगवत्पादारविन्द में प्रवेश करता है क्योंकि शरीर अबधि को उसने प्रपत्ति काल में स्वीकार किया है। देहानुभाव्य कैंकर्य्य एवं भगवद गुण अनुभव करना है ॥२०॥

श्रुत्यास्मृत्यादिभिश्च स्वयमिह भगवद्वाक्य वर्गैश्चसिद्धां,
स्वातन्त्रे पारतन्त्रे प्यनितर गतिभिस्सद्भि रास्थीय मानाम्।
वेदान्ताचार्य इत्थं विविध गुरु जन ग्रन्थ संम्वादवत्याविशंत्या,
न्यासविद्यां व्यवृणुत सुधियां श्रेयसे वेङ्कटेशः ॥२१॥

अ०—श्रुति और स्मृति ग्रन्थों में एवं श्रीभगवान स्वयं अपने श्री मुखों से अनेकों स्थलों पर प्रपत्ति को स्वतन्त्र मोक्षोपाय कहा है और कहीं पर परतन्त्र भक्ति का अङ्ग भी बताया है। अनन्यों में सब से श्रेष्ठ यामुन यतिवर आचार्य चरणों ने सब फल साधन रूप से इसको स्वीकार किया है। इस तरह अनेकानेक गुरुजनों के ग्रन्थों से समर्थित यह न्यास विद्या बताने वाली न्यास विशति को विद्वानों के कल्याल के लिये वेङ्कटेश ने विवरण किया है ॥२१॥

संसारा वर्तवेगप्रशमन शुभदृक् दैशिकैः प्रेक्षितोऽहं सन्त्य,
क्तोऽन्यैरुपायैरनुचित चरितेष्वद्यशान्ताभि सन्धिः।
निःशंकरतत्त्वदृष्ट्यानिरवधिक दयं प्राप्यसंरक्षकं त्वां,
न्यस्यत्वत्पाद पद्मे वरदनिजभरं निर्भरो निर्भयोऽस्मि ॥२२॥

अ०—जन्म जरा मृत्यु रूप इस संसार के आवर्त में पड़े हुये चेतन को देखकर "कृपा काप्युप जायते" संसार निवृत्ति के लिये सत्वगुण का उद्रेग होता है। और वह फिर आचार्य के कटाक्ष का पात्र बनता हैं। फिर मोक्षार्थ अनेक उपायों को परित्याग कर देता है। और अनुचित आचरणों का आज से छोड़ दिया ऐसा निश्चय करता है अब तत्त्व की दृष्टि से मैं निःश्शंक हो गया हूँ। अपना सारा भार अब अगाधकृपा समुद्र आपको अपना रक्षक पाकर हे वरदराज! तुमारे पाद पद्मों में समर्पण करके निर्भर होकर निर्भय हो गया हूँ।'२२॥

इति श्री वेदान्ताचार्य वेङ्कटनाथ कृत न्यासविशंति समाप्त।

श्लोक भावार्थ हिन्दी टीका समाप्त।

श्री मतेरामानुजायनमः

श्रीमद्वेदान्तदेशिक विरचित न्यासतिलक—

श्रीमान् वेङ्कटनाचार्यः कवितार्किक केसरी,
वेदान्ताचार्य बर्यो मे सन्निधत्तां सदाहृदि ।

अ०—कवि और तार्तिकों में सिंह श्रेष्ठ वेदान्ताचार्य श्रीमान् वेङ्कटनाथ स्वामी हमारे हृदय मे विराजे ।

गुरुभ्यस्तद् गुरुभ्यश्च नमोवाक् मधीमहे,
वृणीमहे च तत्राद्यौ दम्पती जगतां पती ।।१।।

अ०—अपने साक्षात् आचार्य का एवं उनके आचार्य ऐसे ही प्राचार्य सब गुरुओं के लिये नमो नमः यह अध्ययन करता हूँ । जिस गुरुपरम्परा में सर्व प्रथम श्री एवं श्रीपति दिव्य दम्पति का स्थान है जगत् के पति दोनों को हम वरण करते हैं ।।१।।

प्रायः प्रपदने पुंसां पौनः पुन्यं निवारयन्,
हस्तः श्री रङ्गभर्तु र्मामव्यादभय मुद्रितः ।।२।।

अ०—आश्रित जनो को अनेक वार प्रपत्ति को रोकने की तरह श्री रङ्गनाथ भगवान की श्री हस्त की वह अभय मुद्रा हमारी रक्षा करें ।।२।।

अनादेर्निस्सीम्नो दुरित जलधेर्यन्निरुपमं,
विदुः प्रायश्चित्तं यदुरघु धुरीणाशयविदः ।
तदारम्भेतस्यागिरमवदधानेन मनसा,
प्रपद्ये तामेकां श्रियमखिलनाथस्य महिषीम् ।।३।।

अ०—यदुनाथ श्रीकृष्णचन्द, और रघुनाथ श्रीरामचन्द जी के "अभय प्रदान" को जानने बाले श्रीपराशर महर्षि और आचार्य श्रीनाथ मुनि ने अनादि अपार पाप समुद्र का प्रायश्चित्त एक प्रपत्ति को ही बताया है । वैसे तो एक-एक भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्त हैं किन्तु प्रप त्त ही

एक ऐसा प्रायश्चित्त है कि सम्पूर्ण पापों का एक ही अनुपम प्रायश्चित्त शास्त्रों मे बताया गया है। उसके आरम्भ मे सब से पहले श्री देवी की प्रपत्ति करनी चाहिये। अखिलेश्वर भगवान की आप पट्ट महिषी हैं ॥३॥

महेन्द्राग्ना विष्णु प्रभृतिषु महत्व प्रभृतिवत,
प्रपत्तव्येतत्वेपरिणमितवैशिष्ट्य विभवाम्।
अघृष्यत्वंधूत्वा कमितु रभिगम्यत्व जननीं,
श्रियंशीतापाङ्गामहमशरणो यामिशरणम् ॥४॥

अ०—इन्द्र वायु मित्रावरुण देवताओं मे यह महा शब्द बिशेषण रुप से जैसे आया है और हविःप्रदान योग में अग्ना बिष्णु ये दोनो देव उद्देश्य रुप मे जैसे कहेगये है वैसे ही उपायरुप भगवान का विशेषणी भूत और उद्देश्य श्री जी हैं। उपलक्षण नहीं कही जा सकती। दोंनो ही मिलकर उपाय बनते हैं। और भगवान की दुर्धषता दूर करने के लिये उपाय के पहले पुरुषकार बनती हैं। माता होने के नाते चेतन के ऊपर पहले शीतल कटाक्ष इन्ही का होता है। अशरण मैं इनकी ही शरणागति करता हूँ ॥४॥

स्वतस्सिद्धः श्रीमानमित गुणभूमा करुणया,
विधाय ब्रह्मादीन् वितरति निजादेशमपियः।
प्रपत्त्या साक्षाद्वा भजन शिरसावापि सुलभं,
मुमुक्षुर्देवेशं तमहमधिगच्छामि शरणम् ॥५॥

अ०—नित्य सिद्ध और असीम कल्याणगुग गणों से युक्त श्रीमन्नारायण भगवान अपनी अपार करुणा से इद्र ब्रह्म रुद्र आदि देवों को कल्प की आदि सृष्टि काल में बनाकर अपनी आज्ञा रुप वेद वेदार्थ प्रदान किया। वह आदि सृष्टा जो की साक्षात प्रपत्ति अथवा परमभक्ति द्वारा सुलभ होता है मुमुक्षु मैं उनकी शरण जाता हूँ ॥५॥

वृन्दानि यः स्ववशयन् व्रजसुन्दरीणां,
वृन्दावनान्तर भुवां सुलभो वभुव।

श्रीमानशेषजनसंग्रहणाय शेते,
रङ्गे भुजङ्ग शयने समहाभुजङ्गः ॥६॥

अ०—जो आनन्द कन्द श्रीकृष्णचन्द भगवान व्रज बालाओं के समूह को अपने सौन्दर्य्य माधुर्य लीला से स्ववश कर लिया। और वृन्दाबन के पशु पक्षी तरु गुल्म लताओं के लिये परम सुलभ हो गये वे ही अटपटे श्रीमन्नाराण्ण ? अब जो कि अपने ही दोभार्ग्य से कृष्णावतार में वञ्चित होगये थे उन सभी को संग्रह करने के लिये शेषपर्य्यङ्क पर शयन करने वाले श्रीरङ्गनाथ भगवान होकर आज भी शयन करते हैं ॥६॥

रङ्गास्तीर्ण भुजङ्ग पुङ्गववपुः पर्यङ्क वर्यङ्गतौ,
सर्गस्थित्यवसान केलिरसिकौतौ दम्पती नः पती।
नाभीपङ्कज शायिनः श्रुतिसुखै रन्योन्यवद्ध स्मितौ,
डिम्भस्यांम्वुज सम्भवस्यरचनैं रोंतत्सदित्यादिभिः ॥७॥

अ०—सृष्टि स्थिति प्रलय रुप लीला करने वाले श्रीरङ्ग दिब्यधाम में शेषशय्या रुप पलङ्ग पर विश्राम किये, प्रभु अपने नाभि कमल उत्पन्न ब्रह्मा के श्रुति मधुर ओंतत्सत इन शद्वों को सुनकर परस्पर दोंनो श्रीरङ्गनाथ और रङ्गनायिकी से मुस्कराते हुये दिब्य दम्पती हमारे पति हैं अर्थातशेषी हैं ॥७॥

घन करुणा रसौघभरितांपरिताप हरां,
नयन महच्छटां मपि तरङ्गय रङ्गपते।
दुरित हुताशन स्फुरित दुर्मददुख मषी,
मलिनित विश्वसौधदर पह्लव वर्णसुधाम् ॥८॥

अ०—हे रङ्गनाथ ? करुणारस प्रवाह से परिपूर्ण और समस्त सन्ताप दूर करने वाला और ऐसे ही चेतनों की प्रबल पाप रुप अग्नि जिसका शमन अत्यन्त कठिन हैं। और दुःख परम्परा की कालिमा से अत्यन्त मलीन हुआ विश्व संसार की इस काली रेखा को धवल बनाने वाला वह आप का कृपा कटाक्ष मुझे कब प्राप्त हो ? अर्थात् अनुग्रह कटाक्ष करेंगे ॥८॥

दुर्मोचोद्भटकर्म कोटि निविड़ोऽप्यादेशवश्यः कृतो,
वाह्यैर्नैर्वविमोहितोऽस्मि कुदृशां पक्षैर्नविक्षोभितः।
यो माहानसिको महान्यतिपते र्नीतोऽस्मि तत्पौत्रजान,
आचार्यानिति रङ्गधूर्य मयिते स्वल्पा वशिष्टोभरः ॥९॥

अ०—हे रङ्गधूर्य्य ? कर्म कठिन शृङ्खला न फँसे हुये पाषाण कल्प मुझे क्रमशः उणते-उणते आपआदेश परिपालन के योग्य मनुष्य बनाये। उसमें भी वेदवाह्य चार्वाक बौद्ध आदि के विचारों से बचाये। वेद मानने वाले कुदृष्टी पक्ष में भी त्रुटि दिखलाये। श्री भाष्य कार यतीन्द्र श्री रामानुजाचार्य के भिक्षा दाता श्रीरामानुज पिल्लान (प्रणतार्तिहर) के प्रपौत्र आचार्य श्रीवादि हंसाम्बुदाचार्य (अप्युल्लार स्वामी) स्वामी जी के द्वारा अपनाकर अब थोड़ा ही भार और अवशेष रह गया है। वह भी आप को ही करना है ॥९॥

आर्तेष्वाशुफला तदन्यविषये व्युच्छिन्न देहान्तरा,
वह्न्याद्दे रनपेक्षणात्तनु भृतां सत्यादिवद्व्यापिनी।
श्री रङ्गेश्वरयावदात्मनियत त्वत्पारतंत्र्योचित्ता,
त्वय्यप्येव त्वदुपायधीरपिहित स्वोपायभावास्तुमे ॥१०॥

अ०—हे रङ्गेश्वर ? आर्त प्रपन्न को तुरन्त फल देने में समर्थ और दृप्त के लिये दूसरी शरीर बन्द कर देने वाली, अग्नि होत्र आदि में वाह्य संस्कारों की तरह इस प्रपत्ति में दूसरे अङ्गों की जरुरत नहीं रहती और सत्य अहिंसा की तरह प्राणी मात्र के लिये यह व्यापक है। आत्म सत्ता-पर्य्यन्त परमात्मा आप की परतन्त्रता बताने वाली और स्वयं परमात्मा को ही प्रधान उपाय बताकर अपने में स्वयं निमित्त मात्र बननेवाली इस प्रपत्ति का मुझे अनुसन्धान हो ॥१०॥

त्वय्याचार्ये विनिहित भरा स्तावका रङ्गनाथ,
त्वत्कैंकर्ये प्रवण मनसस्त्वद्गुणा स्वादमत्ताः।
त्वकस्मिन्नपिविजहतो मुक्त वत्साधनत्वं,
त्वच्छेषत्वस्वरस रसिका सूरयोमे स्वदन्ताम् ॥११॥

अ०—हे रङ्गनाथ ! स्वयं प्रयोजन मानकर आचार्य चरणों ने आप में हमारा भार समर्पण किया और वे आप के कृपा पात्र एवं आप के ही कैंकर्य्य गुणानुवाद में नित्य निरन्तर लगे रहने वाले सदा प्रसन्न मन आचार्य ? मुक्तों की भांति साध्य साधन आप को ही मानकर और किसी अन्य साधनों को छोड़ते हुये कैंकर्य्य रसरसज्ञ होने से शेषत्व स्वाद निष्ठ वे सूरि लोग मुझे सब प्रिय लगें ॥११॥

कल्पस्तोमेप्यपास्तत्वदितर गतयोऽशक्तिधी भक्तिभूम्ना,
रङ्गेश ! प्रातिकूल्यक्षपणपरिणमन्निर्विघ्नतातानुकूल्याः ।
त्रातार त्वामभेघाच्छरणवरणतो नाथनिर्विघ्नयन्त
स्त्वन्निक्षिप्तात्मरक्षां प्रतिरभसजुष स्वप्रवृत्तिंत्यजन्ति ॥१२।

अ०—हे रङ्गेश ! असमर्थता अकिञ्चनता और मोक्ष में आतुरता के नाते ब्रह्म के सहस्त्रों कल्प तक आप के व्यरिरिक्त हमारी और कोई गति नहीं है । इसीलिये प्रतिकूलता का परित्याग कर अनुकूल संकल्प से अमोघ रक्षक आप को पाकर भरन्यास द्वारा सारे विघ्नों को दूरकर अपनी प्रवृत्ति त्यागता हूँ । अपने प्रयोजन के लिये आप ने चेतनों के भार को स्वीकार किया है इस रहस्य को जान कर महान् सन्तुष्ट हूँ ॥१२॥

त्यक्तोपायव्यपायां स्तदुभय करणे सत्रपान् सानुतापान्,
भूयोपित्वत्प्रपत्त्याप्रशमितकलुषानहन्त सर्वं सहत्वम् ।
रङ्गिन् न्यासान्तरङ्गाखिल जन हितता गोचरत्वन्निदेश,
प्रीतिप्राप्त स्वर्णाश्रमशुभचरितांनपासि धन्याननन्यान् ॥१३॥

अ०—काम्य कर्म और निषिद्ध कर्मों को छोड़ने वाले कदाचित्त भूल से इन दोनों के हो जाने पर लज्जा और पश्चात्ताप से युक्त होकर फिर से प्रायश्चित्त प्रपत्ति करके शुद्ध हो जाने वाले और प्रपन्नों के सब सहने वाले आपके न्यास विद्या के पात्र प्रपन्न जन अपने परम हितैषी प्रभु की आज्ञा रूप जो शास्त्रोक्त वर्णाश्रम धर्म है उस सदाचारशील धन्यवाद पात्र अपने अनन्यों की आप स्वयं रक्षा करते हैं ॥१३॥

शोकास्पदांश मथनः श्रयतां भवाब्धौ,
रागास्पदांश सहजं न रुणात्सि दुःखम्।
नो चेदमी जगति रङ्ग धुरीण भूयः,
त्वोदिष्ट भोग रसिका तव न स्मरेयुः ॥१४॥

अ०—हे रङ्गधुरिण ! अपने आश्रितों के संसार समुद्र का वह शोक दूर कर देते हो जिसके लिये वह चिन्तित है कि फिर कहीं वह जन्म-मरण के चक्र में न पड़े। तो फिर इस जन्म में इच्छा का विषय जो राग उसे क्यों नहीं दूर कर देते ! जिससे नित्य निरन्तर आप का अनुभव करता रहे सायद यह आप समझते हैं कि सांसारिक भोगों के सुख मानने वाले ये कहीं आप को ही न भूल जाय ॥१४॥

हेतु वैंधे विमर्शे भजनवदितरत् किन्त्वनुष्ठान काले,
वेद्यत्वद्रूप भेदो विविध इह सतू पायतान्या न पेक्षा।
रङ्गिन् प्रारब्ध भंगात् फलमधिकमना वृत्ति रुक्तेष्टिवत्त,
न्नानाशब्दादिभेदात्प्रपदन भजने सूचिते सूत्र कारैः ॥१५॥

अ०—हे रङ्गिन् ! प्रपदन की विधियां देखने से भजन की तरह ज्ञात होती है। किन्तु इस न्यास विद्या का वेद्य आकार देखने से भेद ज्ञात होता है। उपायान्तर निरपेक्ष स्वयं प्रभु इसके वेद्य हैं। और फल भेद से भी भक्ति प्रपत्ति में अन्तर है क्योंकि अनारब्ध जो प्रारब्ध खण्ड है उसे भी प्रपत्ति क्षय कर देती है। क्रिया भेद से भी भेद है जैसे स्वर्गादि साधन क्रतु एक ही बार के अनुष्ठान से सार्थक है वैसे ही मोक्षार्थ एक ही बार सकृत प्रयोग इसका भी होता है इस तरह ब्रह्म सूत्रकार "नाना शब्दादि भेदात् से भक्ति प्रपत्ति दोनों के भेद को सूचित करते हैं ॥१५॥

भक्तौरङ्गपते यथा खलु पशुच्छागादि वद्वेदना,
ध्यानोपासन दर्शनादि वचसामिच्छन्त्य भिन्नार्थताम्।
व्यक्तयैक्याच्छरणागति प्रपदन त्यागात्म निक्षेपण,
न्यासाद्येषु तथैव तन्त्र निपुणैः पर्यायता स्मर्यते ॥१६॥

अ०—हे रङ्गपते ! "छागोवा मन्त्र वर्णात्" ब्रह्मसूत्र से भक्ति के विषय में जैसे ध्यान उपासन और दर्शन विभिन्न शब्दों से एक ही व्यक्ति को बताया वैसे ही शरणागति प्रपत्ति त्याग आत्म निक्षेप भरन्यास शब्दों से एक शरणागति ही कही जाती है ॥१६॥

विश्वासायास भूम्नो न्यसन भजनयो गौरवे को विशेष,
स्तत्सद्भावेऽपिधर्मान्तर इव घटते कर्तृ भेदाद्विकल्पः।
तद्भेदोरङ्गशायिन्ननितरगतिता द्युत्थशोकातिरेकात्स,
द्विद्यादौ विकल्पस्त्वभि मतिभिदया तेनतत्रैकराश्यम् ॥१७॥

अ०—हे रङ्गशायिन् ? न्यास-भरन्यास और भक्ति उपासनाए दोनों ही कठिन हैं। एक में अदम्य महाबिश्वास दूसरे में पूरा जीवन भर आयास करना पड़ता है। निरन्तर श्रम सामर्थ्य की दृष्टी से दोनों ही बराबर हैं। किन्तु अधिकारी भेद से और धर्मों की तरह इन दोनों का भी परस्पर भेद है। अकिञ्चनता-कि शोक से और मोक्ष फल की शीघ्रता से प्रपत्ति का अधिकारी भक्ति से अलग होता है। जैसे सद्विद्या आदि में अधिकारी की इच्छा भेद से सम विकल्प है तो भक्ति प्रपत्ति में अधिकारी की योगता भेद से व्यवस्थित विकल्प है ॥१७॥

ध्रुवमधिकृतिभेदात् कर्मवद्रङ्गवासिन्,
फलतिफलमनेकं त्वत्पदेभक्तिरेका।
शरणवरण वाणी सर्व हेतुस्तथासौ
कृपणभजननिष्ठा बुद्धि दौर्बल्य काष्ठा ॥१८॥

अ०—हे रङ्गवासिन् ! यह निश्चय है कि आप के चरणों की एक ही भक्ति अधिकारी भेद से अनेकों फलों को देती है। जैसे एक ही अग्नि होत्रकर्म अनेक फल पशु पुत्र सम्पति स्वर्ग देता है। कामना भेद से उसी तरह प्रपत्ति भी हे प्रभो ! मैं "आपकी शरण हूँ" यह शरणागति की वाणी ही सब काम पूरा कर सकती हैं। साङ्ग और सक्रिय शरणागति की तो बात ही क्या है ! तब भी अकिञ्चन अधिकारी उपायान्तर के लिये

अयोग्य भक्ति भजन में अपनी वृत्ति लगावें तो यह मन्द बुद्धि की पराकाष्ठा ही समझनी चाहिये ॥१८॥

कर्त्तव्यं सकृदेव हन्त कलुषं सर्वं ततो नश्यति,
ब्रह्मेशादि सुदुर्लभं पदमपि प्राप्यं मया द्रागिति।
विश्वास प्रतिबन्धि चिन्तन मिदं पर्य्यस्यतिन्यस्यतां,
रङ्गाधीश ! रमापतित्व सुभगंनारायण त्वं तव ॥१९॥

अ०—हे रङ्गाधीश ! आश्चर्य है किलघुभूतप्रपत्ति एक ही वार और गुरुभूत साधनाभक्ति वारम्बार मोक्ष के लिये करनी पड़ती है ! और वह प्रपत्ति एक बार मे ही सम्पूर्ण पाप को नाश करके ब्रह्मरुद्र आदि के लिये दुर्लभ मोक्ष फल को दे देती है वह भी शीघ्र इसी शरीर के वाद । प्रपत्ति करने वालों के लिये विश्वास का यही सब वाधक वनता है । उसको दूर करने के लिये-अमोघ श्री देवी का पुरुषकार एवं गुण और नारायण शद्व से प्रभु के सर्वाधार सर्व सुहृद होना-ऐसे ही चेतनों के उज्जीवनार्थ की गई यह सृष्टी रूप प्रयोजन प्रभु का अपना है। परम उदार-स्वामी-केवल व्याज वहाना भर चाहते हैं कि उद्धार के लिये कुछ कुशकास की तरह कहने को मिल जाय ॥१९॥

धी कर्म भक्तिरहितस्य कदाप्यशक्त्या,
रङ्गेश भाव कलुषप्रणति द्वयोक्तेः।
मन्येवलं प्रवल दुष्कृत शालिनो मे,
त्वन्मूलदेशिककटाक्षनिपातमाद्यम् ॥२०॥

अ०—हे रङ्गेश ! बड़े-बड़े अपराधों के करने से और अन्य उपायों मे कभी भी शक्ति नहीं आ सकी, इसलिये-कर्म-ज्ञान भक्ति मे सदा असमर्थ मैं शुद्ध भावपूर्वक-आस्तिकता विश्वास से युक्त कभी शरणागति भी नहीं की। इसी तरह द्वयमन्त्र का उच्चारण भी नही हुआ। एक मात्र असहाय मुझको आपके कृपा कटाक्ष का फलस्वरूप सर्व प्रथम सदाचार्य का अनुग्रह ही मेरा उत्तारक है ॥२०॥

अन्धोऽनन्ध ग्रहण वशगो याति रङ्गेश ।
यद्वत्पङ्गु नौकाकुहरनिहितो नीयते नाविकेन ।
भुङ्क्ते भोगानविदितनृप सेवकस्यार्भकादिः—
स्त्वत्सम्प्राप्तौ प्रभवति तथादेशिको मे दयालुः ॥२१॥

अ०—हे रङ्गेश प्रभो ! अन्धा व्यक्ति दृष्टिमान् के साथ और पङ्गु प्राणी नौका पर बैठकर दोनों कहीं पर पार जा सकते हैं । जैसे राजा को न जानते हुये भी राज सेवकों के वालक उत्तम राज भोग-विविध प्रकार के भोजन पाते हैं । वैसे ही मैं उपायान्तर मे असमर्थ ज्ञान-एवं शक्ति रहित और गुण प्रभाव न जानने से प्रपत्ति में भी अपना अधिकार नहीं, फिर तुमारी प्राप्ती मे हमारे लिये परम दयालु आचार्य ही समर्थ हैं । पंगु होने से कर्म योग और अन्धा होने से ज्ञान-योग और दोनों के न होने से राजसेवक पुत्र की तरह भक्ति योग का अभाव यहाँ बताया गया तीनों उदाहरणो से अब एक मात्र सदाचार्य द्वारा भरन्यास ही अवलम्ब है ॥२१॥

उक्त्या धनञ्जय विभिषण लक्षयाते
प्रत्याय लक्ष्मण मुने भवताबितीर्णम ।
श्रुत्वावरं तदनु वन्ध मदावलिप्ते,
नित्यं प्रसीद भगवन्मयि रंङ्ग नाथ ॥२२॥

अ०—हे रङ्गनाथ ! श्री रामावतार में बिभीषण और कृष्णावतार मे अर्जुन को व्याज बनाकर समस्तप्राणी मात्र को अभय दान की आप ने घोषणा की और इस अर्चावतार में वही मानकर आपने भगवद्रा-मानुजाचार्य को विश्वास दिलाया कि "प्रपत्ति शास्त्र के उद्धारक तुमारे सिद्धान्त मे जो अभिमान रखते हों उसके सम्बन्ध सम्वन्धियों को इस देह के अवसान मे अवश्य मोक्ष होगा" गुरूपरम्परा प्रचलित इस वरदान को सुनकर उनके सम्वन्ध हर्ष गर्व से गर्वित मुझपर आप प्रसन्न हों । अर्थात् आचार्य सम्वन्ध ही भगवत्सम्वन्ध को भी सफल बनाता है । भगवान को आचार्य निष्ठाही अधिक प्रिय है ॥२२॥

सकृदपि विनतानां सर्वदे सर्वदेहि,
न्युपनिषदभिधेये भागधेये विधेये।
विरमतिन कदाचिन्मोहतो हा हतोहं,
विषम विषय चिन्ता मेदुरा मे दुराशा।२३॥

अर्थ—सकृत एक वार भी शरणागति करने वाले के लिये सब फल देने वाले सर्वान्तर्यामी प्रभुः जिसका सम्पूर्ण वेदोपनिषद गुण गा रहे हैं। प्रपत्ति से वशीभूत होने वाले उन्हें पाकर भी यह विष में शब्द स्पर्श रूप रस विषयों की वढ़ी हुइ चिन्ता और इस दुराशा का हमारे कब अन्त होगा! मोहने मुझे मार डाला बड़ा ही दुख है॥२३॥

यावज्जीवं जगति नियता देहयात्राभवित्री,
त्यक्ताःसर्वे त्रिचतुरदिन ग्लान भोगा नभोगाः,
दत्ते रङ्गी निजमपिपदं देशिका देश कांक्षी,
किं ते चिन्तेपरमभि मतं खिद्यते यत्पुनस्त्वम्॥२४॥

अर्थ०—हे चिन्ते! इस जगत मे देहयात्रा का भार प्रारब्धपर निर्भर है। आवश्यक अन्न पानादि सब प्रारब्ध से आता रहता है। स्वर्ग भोग भी स्थायी नहीं है अति अल्प और अत्यन्त अस्थिर चञ्चल है इसीलिये उसे मुमुक्षुओं ने छोड़ दिया। मोक्ष के लिए भी चिन्ता नहीं करनी है। वह तो रङ्गनाथ भगवान सदाचार्य के अनुरोध से अपना निजपद इस शरीर के अवसान मे देते ही हैं। इसलिये वह कौन सी वस्तु है जिसके लिये तुम दुख पा रही हो॥२४॥

अपि मुहुरपराधैरप्रकम्प्यानुकम्पे
वहति महति योगक्षेमवृन्दे मुकुन्दे।
मदकलुष मनीषा वज्रलेपावलेपा
ननुगणयितु मीहे नप्रभून प्रभूतान॥२५॥

अ०—वारम्वार अपराध करने पर भी दयालु प्रभु कभी रुष्ट नहीं होते अपनी अपार अनुकम्पासे आश्रितों के योगक्षेम को सदा अपनी महानता से देते ही रहते हैं। ऐसे प्रभु के रहते हुये धनमद से कलुषित

बुद्धिवालों के वज्राघात की तरह दुरुक्ति पूर्ण उनके गर्व पूर्ण अवमान-करने वाले क्षूद्र पुरुषों का अनुसरण मैं नहीं करता ।।२५।।

मार्तभारति मुन्चमानुष चटून हे देह लब्धैरलं
लुब्ध द्वार दुरासिकापरिभवैस्तोषं जुषेथा मनः ।
वाचस्सीमनि रङ्गधामनि महानन्दोनमद्,
भूमनि स्वामिन्यात्मनिवेङ्कटेश्वरकवेः स्वेनार्पितोऽयंभरः ।।२६।।

अ०—श्री वेदान्त देशिक स्वामी जी देहवाणी मन को समझा रहे हैं । कि हे माता । वाग्देवी ! मनुष्यों की झूठी प्रशंसा चाटुकार छोड़ो । हे देह जो प्राप्त है उसी मे सन्तुष्ट रह । हे मन अर्थ पिशाच लुब्धकों के दरवाजे पर जाकर नाना प्रकार के अपमानों से सन्तोष तो मानलो ? वाणी की सीमा श्री रङ्गनाथ भगवान जो महान् आनन्द के उद्गम स्वामी है और आत्मा के भी आत्मा है उनमे वेङ्कटेश कविने अपना सब भार समपर्ण कर दिया है । अब देह वाग मन को असेव्य सेवा नहीं करनी चाहिये ।।२६।।

दास्यं लास्यवतानुमत्य मनसा रङ्गेश्वरः ? त्वत्पदे
नित्यं किंकरवाण्यहं नतु पुनः कुर्य्यां कदर्य्याश्रयाम् ।
मीलच्चक्षुषि वेल्लितभ्रुणि मुहुर्दत्तावमानाक्षरे,
भीमे कस्यचिदाढ्यकस्य वदने भिक्षा विलक्षांदशम् ।।२७।।

अ०—हे रङ्गेश्वरः मैं तुमारे पादारविन्द की सेवा मे लालसा रखकर हर्ष पूवक नित्य ही दास्यभाव से कैंकर्य्य करना चाहता हूँ । हमेशा गर्व से ढके हुये नेत्र वाले क्रोधवशभृकुटी ताने, अपमान करने वाले कृपण-क्षूद्र धनिक भयंकरों का मुख अब न देखना पड़े । अर्थात् इनके यहाँ भिक्षार्थ याचना न करनी पड़े ।।२७।।

त्वय्यकाञ्जलिकिंकरे तनुभृतां निर्व्याजसर्वं सहे,
कल्याणात्मनि रङ्गनाथ कमलाकान्ते मुकुन्दे स्थिते ।
स्वामिन् पाहिदयस्वदेहिकुशलंजीवप्रभो भावये,
त्यालापानवलेपिषुप्रलपितुं जिह्रेति जिह्वा मम ।।२८।।

अ०—हे रङ्गनाथ ? यह शरीरधारी प्राणी जब सब जगह से निराश्रित होकर आप के श्री चरणों मे हाथ जोड़कर प्रार्थना करता है तो आप उसके आदेश पालक बनजाते हों। और उसके सभी अपराधों को विना किसी परिहार (दण्ड दिये) के ही सह लेते हो। आप ज्ञान आनन्द-परम मङ्गल स्वरूप हों एवं श्री महालक्ष्मी के बल्लभ हो प्राण नाथ सब भोग मोक्ष के प्रदाता हो ऐसा आपको समझकर भी जहाँ तहाँ जाकर दुर्मदान्ध-गर्वीले व्यक्तियों से हे स्वामी मेरी रक्षा किजीये। "दया कीजिये" और "कुछ दीजिये" 'आप कुशल से रहें, "सैकड़ो वर्ष जीवित रहें" आश्रित मेरी उन्नति कीजिये। इस तरह के प्रलाप करने मे अब मेरी जिह्वा लज्जित हो रही है ॥२८॥

त्वयिसति रङ्गधूर्ये शरणागत कामदुधे,
निरवाधकप्रवाह करुणा परिणावहति।
परिमितदेश काल फलदान फलदाकृतिकान्
कथमधिकुर्महे विधिशिव प्रमुखानमुकान् ॥२९॥

अर्थ—हे रङ्गधूर्य्य ! आप के अनन्त कल्याण गुणों का मूल भूत गुण करुणा है। उसके समूह ! शरणागतों के सब मनोरथ परिपूर्ण करने वाले आप के विद्यमान रहते हुये फिर दूसरे दानव मानव देव का सहारा लेना जो आप से ही पाई हुई वस्तुओ को थोड़ा सा दे सकते है वह भी वहुत काल मे किसी अनुपयुक्त देश में और अपना बना करके देता हूँ यह कहते हैं जबकि वस्तुतः वे देने वाले नहीं है। जिनका नाम लेना भी उचित नहीं आपके सामने ऐसे विधि शिव और इन्द्र अग्नि को हम कैसे आश्रय कर सकते है ॥२९॥

ओमित्यभ्युपगम्य रङ्गनृपतेनान्योचितांशेषतां,
स्वातन्त्र्यादि मयीं व्यपोह्यमहर्तामाद्या मविद्या स्थितिं।
नित्यासंख्यविसीमभूति गुणयो यायामनायासत,
स्सेवासम्पदमिन्दिरेश युवयोरैकान्तिकात्यन्तिकीम् ॥३०॥

अर्थ—हे इन्दिरेश और श्रीरङ्गराज। चेतनों की शेषता-प्रणव

के प्रथम अक्षर अकार से "आय" इस लुप्त चतुर्थी की प्रकृति अ,, से विदित होती है। वह निरूपाधिक दूसरे का अब शेष अथवा दास नहीं बन सकता उसी प्रणव मे "म" शब्द जीव वाचक और उकार अनन्य सम्बन्ध को बताता है परमात्मा का ही यह जीव अनन्य शेष है अपना भी नहीं तब फिर दूसरे का कैसा ? उसी मूल मन्त्र मे नमः शब्द है अहंकार रूपआदि अनादिविशाल अविधा की शाखा देहात्मभ्रम स्वतन्त्रात्मभ्रमः और देहानुबन्धियों मे ममता आदि अनर्थ परम्पराओं का मूल कन्द दूर करके नित्य असख्य गुणों की उद्भग भूमि आप एवं आपकी प्राणवल्लभा श्री जी की ऐकान्तिक सेवा सम्पति हमें अनायास मिल सके ऐसी कृपा करें ।३०।।

आचार्याद्रङ्गधुर्य्य द्वय समधिगमे लब्धसत्त्वंयदात्वे,
विश्लिष्टाश्लिष्ट पूर्वोत्तर दुरित भरं यापितारब्धदेहम।
नीतं त्वत्कैस्त्वया वानिरवधिकदयोद्भूत वोधादिरूप
त्वद्भोगैकस्वभोगं दयित मनुचरं त्वत्कृते मां कुरुष्व ।।३१।।

अर्थ—हे रङ्गधुर्य्य ? आचार्य की कृपा से द्वय मन्त्र की प्राप्ती होने से ही हम सचेतन बनें। इसके पहले हम निष्प्राण थे। शरणा गति काल मे सञ्चित कर्म पुण्य पापों को आपने नाश कर दिया और प्रारब्ध का भी वह भाग पुण्य पाप रूप जो फल देने के लिये समय ढूढ रहा था केवल इस देह का धारण करने वाला कर्म ही शेष भोग ने के लिये छोड़े हैं। जिससे लीला विभूति मे रहकर सिद्धान्त का प्रचार अर्चावतारकी सेवा करें यह द्वय मन्त्र शरणा गति का फल प्राप्त हुआ। देहावसान मे आपके अर्चिरादि गति के आति वाहिकगणों द्वारा अथवा गजराज की भाँति स्वयं ही सुषुम्ना द्वार से ले जायेगें। जहाँ पहुँच कर आप की असीम दया से आत्मा के अपने दिव्य आत्मगुणों का आविर्भाव हो जायगा। वहाँ का अपार आनन्द भी स्वतन्त्र मेरा नहीं आप को आनन्दित देखकर आनन्द मानना ऐसे स्वभाब वाला परम

प्रिय सेवक बनूं । सब तुमारे लिए हो यही परम पुरुषार्थ की प्रार्थना है ॥३१॥

विधानं रङ्गेशादधिगतवो वेङ्कट कवेः
श्फुरद्वर्णं वक्त्रे परिकलयतां न्यासतिलकम् ।
इहामुत्राप्येष प्रणत जन चिन्ता मणिगिरिः
स्वपर्य्यङ्के सेवां दिशति फणिपर्य्यङ्करसिकः ॥२३॥

अर्थ—रङ्गनाथ भगवान से वशीकरण तिलक बनाने की विधि वेङ्कट कवि ने सीखा इस न्यासतिलक को अपने मुख में जो धारण करेगा-अनुशीलन करेगा । उसे प्रणत जनों की चिन्तामणि भगवान ? शेषशायी ? श्री रङ्गनाथ ? प्रभु ! अपनी सन्निधि अर्चावतार और देह त्यागने पर श्री बैकुण्टनाथ रूप को श्री सन्निधि में ऐकांतिक और आत्यन्तिक अन्तरङ्ग अपनी सेवा प्रदान करेंगे ॥३२॥

इति श्री बेदान्ताचार्यकृत श्री न्यासतिलक समाप्त

श्लोक भावार्थ हिन्दी समाप्त ।

न्यास दशकम्

अहं मद्रक्षणभरो मद्रक्षण फलं तथा।
न मम श्रीपतेरेवेत्यात्मानं निक्षिपेद्बुधः ॥१॥
न्यस्याम्यकिञ्चनश्श्री माननुकूलोऽन्यवर्जितः।
विश्वासप्रार्थनापूर्व मात्मरक्षा भरं त्वयि ॥२॥

अ० इन दोनों श्लोकों से आचार्य अङ्गपञ्चक शरणागति का स्वरूप बता रहे हैं। हे श्रीमन् ! मुझ अकिञ्चन के रक्षण का भार और फल सब आप को समर्पण कर रहा हूँ। आज से प्रतिकूल आचरण छोड़कर अब सदा आपके अनुकूल ही रहूँगा। अब विश्वास पूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि मेरी रक्षा का भार आप स्वीकार करें। स्वरूप तो आप के आधीन है ही मोक्ष के उपाय का भार और मोक्षरूप फल भी आप का ही है। उसमें अब मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। पाञ्चरात्र से भगवद्वचनों के अनुसार यहाँ पाँचों अङ्गों का वर्णन है। रक्षण में विश्वास और प्रार्थना पूर्वक यांचना इसी तरह रक्षक रूप से भगवान् का वरण गोप्तृत्व वरण करना और सदा अनुकूल संकल्प करूँगा प्रतिकूल आचरण कभी नहीं करूँगा। दीन अकिञ्चन मैं आपके श्री चरणों में इस आत्मा का निक्षेप कर रहा हूँ। अब इस कार्य में हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा ॥१॥२॥

स्वामी स्वशेषं स्ववशं स्वभरत्वेन निर्भरम्।
स्वदत्तस्वधियास्वार्थं स्वस्मिन्न्यस्यति मां स्वयम् ॥३॥
श्रीमन्नभीष्ट वरदत्वामस्मि शरणंगतः।
एतद्देहावसाने मां त्वत्पादं प्रापय स्वयम् ॥४॥

अ० समर्पण में भी हम स्वतन्त्र नहीं हैं। सात्विक त्याग फल संङ्ग कर्तृत्व और ममता का त्याग जैसे गीता में बताया गया है। और सभी सत्कर्मों के आदि अन्त में भगवान की ही मुख्यतया जैसे अनुसन्धान किये जाते हैं वही प्रक्रिया इन श्लोकों से आचार्य बताते हैं। हे स्वामी स्वा-

धीन अपनी वस्तु को अपने ही लिये समर्पण करा रहे हो, और वह भी अपनी दी हुई सामग्री से स्वयं अपने ऊपर स्वरूप रक्षा एवं फल का सम्पूर्ण दायित्व ले रहे हो। फलतः अब मोक्ष के लिये चेतन की अपनी कोई जिम्मेदारी नहीं रह गई है। हे अभीष्टप्रद ! वरदराज ! आपकी शरण में आ गया हूँ इसी देह के अन्त में आप ही स्वयं अपने पादारविन्द में ले लीजियेगा। उपाय और परम फल की प्रार्थना इस श्लोक से निर्देश कर रहे हैं ।।३।।४।।

त्वच्छेशत्वे स्थिरधियं त्वत्प्राप्त्यैक प्रयोजनम् ।
निषिद्ध काम्यरहितं कुरु मां नित्यकिंकरम् ।।५।।
देवीभूषण हेत्यादि जुष्टस्य भगवंस्तव नित्यं ।
निरपराधेषु कैंकर्येषु नियुंक्ष्वमाम् ।।६।।

अ० आपके शेषत्व में अब मैं हठ निश्चयी हो गया हूँ और आपकी प्राप्ती ही हमारा अन्तिम प्रयोजन है इसलिये हे प्रभो ! निषिद्ध और सकाम कर्मों से मुझे दूर करके अपना नित्य दास बनायें यही प्रार्थना है। हे वैकुण्ठ नाथ ! श्री भू नीला आदि पट्टमहिषियाँ और किरीट कुण्डल मुकुट आदि दिव्य आभूषण एवं सुदर्शन पाञ्चजन्य आदि दिव्य आयुध ऐसे ही अनन्त गरुण विष्वक्सेन आदि दिव्य नित्य सूरिवर्गो से आप का नित्य निरन्तर कैंकर्य मुझे मिले, और निरपराध अपनी सेवा में स्वीकार कीजिये यही अन्तिम प्रार्थना है। सर्व देश काल और सभी अवस्थाओं में हम सब तरह से आप की ही सेवा करें ऐसी कृपा हो।

मां मदीयञ्चनिखिलं चेतनाचेतनात्मकम् ।
स्वकैंकर्योपकरणं वरद स्वीकुरु स्वयम् ।।७।।
त्वदेकरक्ष्यस्य मम त्वमेव करुणाकर ।
न प्रवर्तय पापानि प्रवृत्तानि निवर्तय ।।८।।

अ० हे वरदराज ! सम्पूर्ण चेतन वर्ग और अचेतन वर्ग एवं मैं और मेरा कहे जाने वाली सभी वस्तुयें आपके कैंकर्य का साधन है उन्हें आप स्वयं ही स्वीकार कीजिये। हे करुणाकार ! आप ही मेरे [illegible]

लिये अब आगे किसी पापों में मुझे न लगायें। किसी पाप में यदि लगा हूँ तो मुझे दया कर आप ही उससे बचायें! मैं अपना हित अहित ठीक-ठीक नहीं जान सका और न अपने आप उसे कर ही सकूँगा ।।७।।८।।

अकृत्यानाञ्च करणं कृत्यानां वर्जनं च मे।
क्षमस्व निखिलं देव प्रणतार्तिहर प्रभोः ।।९।।
श्रीमान् नियत पंचाङ्गं मद्रक्षण भरार्पणम्।
अचीकरत् स्वयं स्वस्मिन्नतोऽहमिहनिर्भरः ।।१०।।

अ० हे प्रणत जनों के आर्ति दूर करने वाले प्रभो! संस्कार स्वभाव और सङ्ग बस जो अकृत्य भगवद्भागवतापचार हो जाता है उसे क्षमा करें। ऐसे ही भगवद्भागवतों की नितान्त परतन्त्रता जो उक्त कारणों से नहीं बन रही है देव! इसे भी सम्पूर्ण क्षमा करें। शरणागति गद्य में श्री भाष्यकार रामानुजाचार्यजी ने श्री रङ्गनाथ भगवान की श्री संन्निधि में प्रार्थना की थी और उसे अपने आश्वासन से उन्होंने जैसा स्वीकार किया श्रीवेदान्त देशिक स्वामी जी भी वैसे ही श्री वरदराज भगवान से प्रार्थना करके प्रति वचन प्राप्त कर रहे है कि श्रीमान् वरदराज भगवान। स्वयं प्रपत्ति शास्त्र निर्णीत पञ्चाङ्ग भर समर्पण कराके समर्पित चेतन के रक्षण का भार स्वयं स्वीकार किये इसलिये मैं उनके आश्वासन पर निर्भर हूँ। माशुचः से श्री गीताचार्य के चरम श्लोक में इस चरम वाक्य से अर्जुन की तरह निर्भर और निर्भय हो गया हूँ।

स्वशेषभूतेनमया स्वदत्त करण कलेवरैः देहेद्रियाद्युपकरणैः स्वस्मै एवं स्वप्रीतये स्वयमेव भगवान कारयति। अपने आत्मीय जन से अपने ही दी हुई सारी सामग्रियों द्वारा अपनी प्रसन्नता के लिये अपने आप ही भगवान करा रहे हैं। यही सात्विक त्याग शास्त्रों में कहा गया हैं। वह भी इन्हीं श्लोकों के द्वारा स्वामी बताये हैं। इसलिये शरणागति गद्य और मन्त्रार्थ-सात्विक त्याग यह सब न्यासदशक में संक्षेप से बताया है।

जाते हैं वही प्रा०

—०—

जाते हैं वहीं प्राट